



# कबीर-काव्य में मानवीय अरिम्ता : एक अनुशीलन

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़  
की पी-एच०डी० उपाधि  
हेतु प्रस्तुत  
शोध-प्रबन्ध-सार

निर्देशक

प्रो० एम. ई. जुबेरी

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़

शोधार्थी

आयशा खातून

हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़

हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय.  
अलीगढ़ (उ०प्र०), भारत

2011

## शोध-प्रबन्ध-सार

कबीर हिन्दी काव्य-जगत के वह महान विभूति हैं जिन्होंने सर्वप्रथम मानव को केन्द्र में रखकर काव्य रचना की। मानव को मानव होने का अनुभव कराया तथा मानवीय अस्मिता की शिनाख्त की, जो तत्कालीन समाज में धर्म, वर्ण, जाति के अन्धकूप में पड़कर कहीं विलुप्त होती जा रही थी। कबीर मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के पक्षधर थे। उनके लिए धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव अर्थहीन था। वे ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे जिसमें मनुष्य प्रमुख हो। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर कोई भेद-भाव न हो, कोई किसी के अधिकारों को क्षति न पहुँचाये और न ही कोई किसी का शोषण करने वाला हो। सभी को जीवित रहने तथा अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अधिकार प्राप्त हों। इस प्रकार कबीर-काव्य मानवीय अस्मिता की रक्षा का उच्च आदर्श प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मानव तथा मानवीय अस्मिता पर सविस्तार विचार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का अध्ययन पाँच अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। ये अध्याय निम्नलिखित हैं—

1. भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता और मनुष्यकेन्द्रिकता
2. सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार
3. कबीर की वैचारिकता : धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार का प्रश्न
4. धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य की परिकल्पना
5. वैयक्तिक अस्मिता के आयाम: सामाजिक सरोकार से आध्यात्मिक पूर्णता तक

प्रथम अध्याय का शीर्षक है 'भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता और मनुष्य केन्द्रिकता'।



प्रस्तुत अध्याय का दो भागों में अध्ययन किया गया है। प्रथम भाग 'लोकोन्मुखता' के अन्तर्गत लोकजागरण की पृष्ठभूमि, भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप समाज में आये सामाजिक आर्थिक बदलावों तथा भक्ति उदय के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है।

इस अध्याय के द्वितीय भाग में 'मनुष्यकेन्द्रिकता' के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति की भूमिका, निम्न एवं पिछड़ी जातियों में प्रतिरोध की चेतना का उदय तथा सन्त-साहित्य एक आन्दोलन का रूप किस प्रकार धारण करता है और उसे कितनी सफलता मिलती है, इस पर विचार किया गया है।

कबीरकालीन समाज सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि सभी-दृष्टियों से एक अव्यवस्थित समाज था। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए सर्वप्रथम जनजागृति की आवश्यकता थी। कबीरादि सन्तों ने इसके लिए एक क्रान्तिकारी अभियान की शुरुआत की, जो आगे चलकर भक्ति-आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। इस आन्दोलन का उद्देश्य था मनुष्य को केन्द्र में स्थापित करना जो सदियों से उत्पीड़न एवं उच्च जातियों के अत्याचार का शिकार था। देखते-ही-देखते इस आन्दोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया। इसमें शूद्रों, मुसलमानों एवं स्त्रियों ने बड़े पैमाने पर अपनी भागीदारी निभायी। इसी कारण इसे लोकजागरण की भी संज्ञा दी जाती है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में महान् परिवर्तन हुए। समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ जो दरिद्रता एवं उच्च जातियों द्वारा दी गयी प्रताड़ना को अपना भाग्य समझकर चुप थीं, उन्हें इस बात का एहसास हो गया कि धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उन्हें प्रताड़ित करना, निम्न एवं हेय समझकर भेद-भाव रखना एवं उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करना आदि सभी अमानवीय व्यवहार हैं। यह उच्च जातियों द्वारा उनके प्रति रचा गया षड्यन्त्र मात्र है क्योंकि सभी प्राणियों की रचना एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति से हुई है। अतः सभी समान हैं। यही

वह एहसास था जिसके कारण निम्न जातियों में प्रतिरोध की चेतना का उदय हुआ। तत्पश्चात् जाति-प्रथा की जटिलताएं एवं संकीर्णताएं धीरे-धीरे समाप्त होने लगीं। भक्ति, जिस पर अब तक केवल उच्च जातियों का अधिकार था अब यह मार्ग निम्न जातियों के लिए भी खुल गया। साथ ही उन्हें व्यवसायिक चुनाव की भी स्वतन्त्रता मिली। इस प्रकार कबीरादि सन्तों ने समाज में अपनी सक्रिय भूमिका के माध्यम से सामाजिक बुराइयों को मिटाकर निम्न समझी जाने वाली जातियों को समाज में सम्मान दिलाया।

**द्वितीय अध्याय** का शीर्षक है 'सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार।' इस बात का इतिहास गवाह है कि कोई भी घटना एकाएक जन्म नहीं लेती उसके पीछे एक ठोस आधार अवश्य रहता है। सन्त-साहित्य का उदय भी इसी श्रेणी में आता है। इसका आधार है—शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन, सिद्धों का चिन्तन तथा नाथयोगियों का चिन्तन जिस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में दर्शन, अध्यात्म और भक्ति पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

सन्तों द्वारा सामाजिक कुरीतियों को मिटाकर निम्न जातियों को सम्मान दिलाने का जो प्रयास किया गया वह सन्त-साहित्य के अन्तर्गत आता है। इसका आधार है—शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन, सिद्धों का चिन्तन, एवं नाथयोगियों का चिन्तन। यद्यपि सन्त-साहित्य का मूल स्रोत सिद्धों एवं नाथों का साहित्य है। किन्तु इस पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का भी विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। शंकराचार्य ने आत्मा-परमात्मा की एकता को स्थापित करते हुए अद्वैतवाद, का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसी का आश्रय ग्रहण कर सन्तों ने भी आत्मा-परमात्मा की एकता को मान्यता प्रदान की। सिद्धों से उन्होंने सहज भक्ति-साधना को अपनाया। कबीर ने सहज शब्द का प्रयोग बार-बार किया है। किन्तु उनकी यह सहज भक्ति-साधना सिद्धों की भाँति तामसिक न होकर सात्विक थी। स्थान-स्थान पर तीर्थाटन,



मूर्ति-पूजा, गंगा-स्नान आदि बाह्याडम्बरों की निन्दा की प्रवृत्ति भी सन्तों ने सिद्ध-साहित्य से ही ग्रहण की है। मन के शुद्धिकरण के लिए सन्तों ने नाथयोगियों से योग को अपनाया है, किन्तु उन्हें नाथयोगियों की भाँति शरीर में भस्म लगाना, लंबे बाल रखना तथा रुद्राक्ष की माला धारण करना स्वीकार नहीं था। उन्होंने इन चिन्हों को मन में धारण (सो जोगी जाके मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा।) करने की बात कही है। इस प्रकार सन्त-साहित्य पर अद्वैतवाद, सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य आदि सभी सम्प्रदायों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। किन्तु सन्तों ने इन सम्प्रदायों की प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपनी कुछ मौलिक बातों को भी इनके साथ जोड़ दिया, जो धर्म को अत्यन्त सात्विक, सरल, सहज एवं बौद्धिक बनाने वाली थीं।

**तृतीय अध्याय** का शीर्षक 'कबीर की वैचारिकता : धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार का प्रश्न है।' इस अध्याय में धर्म के परम्परागत स्वरूप, धार्मिक आस्था, आध्यात्मिक चिन्तन, धर्म के संस्थागत रूप और मानवीय सामाजिक अधिकार, धार्मिक निशेध और विकल्प का उल्लेख हुआ है तथा सामाजिक सन्दर्भों में मानवीय अस्मिता की शिनाख्त का भी वर्णन किया गया है।

कबीरकालीन समाज में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था। धर्म के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को आचरण करना होता था। धर्म के अनुसार आचरण करने से तात्पर्य है वर्ण-व्यवस्था के अनुसार आचरण करना हिन्दू धर्म शास्त्रों में परम्परागत रूप से चली आ रही इस (वर्ण-व्यवस्था) व्यवस्था के पालन को ही सदाचार बताया गया है। इसलिए सदियों से लोग इस व्यवस्था का पालन करते हुए चले आ रहे थे। किन्तु मानवीय अधिकारों के रक्षक कबीर ने इस धार्मिक व्यवस्था के परम्परागत रूप पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। उनका विचार का था कि जो धर्म व्यक्ति को उसके अधिकारों से वंचित करता हो तथा मानव-मानव के बीच

विभाजक रेखा खींचने वाला हो वह धर्म कैसे हो सकता है जबकि ईश्वर ने सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति एक समान की है। कबीर को यह अमानवीय व्यवहार किसी भी रूप में स्वीकार नहीं था। इसी कारण उन्होंने धार्मिक आस्था से जुड़ी हुई उन समस्त रूढ़ियों, परम्पराओं एवं मिथ्या आडम्बरों का विरोध किया, जो मानवीय सामाजिक अधिकारों के मार्ग में बाधक थे। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक आस्था की रूढ़ियों को अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सवालियों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया, जिसका जवाब किसी के पास नहीं था। कबीर कर्मकाण्ड एवं बाह्याचारों में विश्वास रखने वालों से प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि सिर के बाल मुड़ाने से मुक्ति मिलती है तो सर्वप्रथम भेड़ों को मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी प्रकार बहुत से योगी-सन्यासी मुक्ति की इच्छा से जंगलों में नंगे रहते हैं। यदि मुक्ति का सम्बन्ध नग्न रहने से है तो वन में नंगे विचरण करने वाले मृगों को सबसे पहले मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी प्रकार मुक्ति का सम्बन्ध यदि गंगा स्नान से है तो इसके अधिकारी मेढक होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि ये सभी बातें धर्म की वास्तविक बातें नहीं हैं। वास्तविक धर्म आध्यात्मिक चिन्तन में निहित है और आध्यात्मिक चिन्तन का सम्बन्ध रूढ़ियों, परम्पराओं एवं पण्डित-मुल्ला द्वारा कही गयी बातों का अन्धानुकरण करने से नहीं है, बल्कि आत्म-साधना द्वारा ब्रह्म विचार से है। इसी से ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि आत्मा को चीन्हें। ब्रह्म-ज्ञान के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है, जिसमें कर्मकाण्डों के लिए कोई स्थान नहीं है। जबकि कबीरकालीन समाज में धर्म पर आधारित कर्मकाण्डों की बहुलता थी। जिससे वर्ण-व्यवस्थाजन्य जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत को भी अत्यधिक बढ़ावा मिला। ऊँच-नीच, छुआछूत आदि संकीर्ण भावनाओं के कारण तथाकथित निम्न जातियों का जीना मुश्किल हो गया था। उन्हें उनके समस्त अधिकारों से वंचित कर नगर से बाहर रखा जाता था। उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था जो एक

धार्मिक संस्था भी है, वह अपने संस्थागत रूप में उपयोगी साबित नहीं हुई। धार्मिक संस्थाओं में सदैव सामाजिक कल्याण का भाव छुपा रहता है। जबकि वर्ण-व्यवस्था ने उच्च जातियों को विशेषाधिकार प्रदान कर निम्न जातियों को सदैव के लिए दलित, उत्पीड़ित एवं शोषित बना दिया था। किन्तु कबीर इन दलित, उत्पीड़ित एवं शोषित जातियों की आवाज बनकर समाज के सामने आये और चीख-चीखकर उच्च जातियों से प्रश्न किया कि तुम दोनों (ब्राह्मण-शूद्र) के धमनियों में रक्त की ही धारा प्रवाहित हो रही है फिर ब्राह्मण-शूद्र का भेद-भाव कैसे सम्भव है? यदि स्वयं को उच्च जाति का बताते हो तो तुमने उसी द्वार से क्यों जन्म लिया जिस द्वार से शूद्र जन्में हैं, तुम्हें तो किसी अन्य द्वार से पैदा होना चाहिए था। कबीर ने ऐसे ही तिलमिलाने वाले सवालों के माध्यम से सच्चाई बयान की तथा धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर स्थापित श्रेष्ठता को नकारते हुए मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए हाथ में मुराडा लेकर घर से बाहर निकल पड़े।

कबीर को हाथ में मुराडा लेकर जिसकी तलाश में घर से बाहर निकलना पड़ा था निश्चय ही वह कठिमेता से प्राप्त होने वाली वस्तु थी, इसे प्राप्त करने में जितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा, उतना ही कठिन इसे परिभाषित करना भी है। कहीं पर 'अस्मिता' शब्द अहंकार एवं मोह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो कहीं पर यह आस्था, गौरव और संकल्प का बोधक शब्द माना गया है। किसी विद्वान ने 'मैं हूँ' से लेकर 'मैं किसलिए हूँ' तक की यात्रा को अस्मिता बताया है तो किसी ने इसे दर्शन और गणित से जोड़ने की कोशिश की है। सामान्यतः अस्मिता, सत्ता, वजूद, अथवा निजता की अनुभूति को कहते हैं। इसकी सार्थकता को समझना ही व्यक्ति का बुनियादी सरोकार होता है, क्योंकि यह व्यक्ति की अपनी निजता एवं महत्ता को रेखांकित करने वाली धारणा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य इच्छानुसार अपने व्यक्तित्व का निर्धारण करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होता है। अतः अस्मिता और स्वतन्त्रता दोनों

एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मनुष्य अपनी सत्ता समाज में तभी स्थापित कर सकता है जब वह पूर्ण स्वतन्त्र हो उस पर कोई नियम दूसरों द्वारा आरोपित न हो। अतः स्वतन्त्रता सत्ता का अभिन्न अंग है।

मध्यकालीन समाज हिन्दू धर्म व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित था, जिसके अन्तर्गत सभी वर्णों के कार्यों को उच्चता से निम्नता के क्रम में निर्धारित किया गया था। इस प्रकार के क्रम विभाजन की श्रेणी में शूद्रों को सबसे निम्न स्थान प्राप्त था जिसके कारण उन्हें नीच समझा जाने लगा था। अतः वे न तो स्वतन्त्र थे और न ही उनकी समाज में कोई सत्ता थी। वे सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि सभी मानवीय अधिकारों से पूर्णतः वंचित थे, यहाँ तक खाना भी वह दूसरों का दिया हुआ ही खाते थे। उनकी स्थिति इतनी दयनीय हो गयी थी कि उनमें जिजीविषा की भावना भी धीरे-धीरे समाप्त होने लगी थी। कबीर ने इन अवरोधों को हटाने का बीड़ा उठाया। इसके लिए उन्होंने कभी मानवीय अस्मिता को आघात पहुँचाने वाले वेदादि को गले की फाँसी कहकर धार्मिक रूढ़ियों पर सीधा प्रहार किया तो कभी धर्म के नाम पर समाज में ऊँच-नीच, छुआछूत आदि का भाव पैदा करनेवाले पण्डित एवं मुल्ला को फटकार लगायी तो कभी उपदेशात्मक शैली का प्रयोग कर समाज सुधार का प्रयत्न किया।

**चतुर्थ अध्याय** धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य की परिकल्पना से प्रारम्भ होता है। इसमें सामन्ती व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। सामन्ती व्यवस्था के फलस्वरूप लोगों का पूँजीवाद की ओर आकर्षण और उनकी परिकल्पना में आये बदलावों का भी उल्लेख हुआ है। इस अध्याय में मानवीय गरिमा तथा धर्म, वर्ण और जातिगत पहचान के निषेध का वर्णन किया गया है। साथ ही मानव और मानवीयता की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसके महत्व को भी स्पष्ट किया गया है।

वर्ण-व्यवस्था जो उच्चता से निम्नता के क्रम में जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) विभाजन की एक व्यवस्था है, इसमें कथाकथित निम्न जातियों का उच्च जातियों द्वारा अत्यधिक शोषण किया गया। वर्ण-व्यवस्था के बाद सामन्ती-व्यवस्था ने भी इसका लाभ उठाया। सामन्ती षासकों ने अपने मनमाने व्यवहार से जनता का शोषण किया। इस शोषण में ब्राह्मणों का हाथ था। वे सामन्तों के मनमानी व्यवहार को धर्म का जामा बड़ी ही चतुरता से पहनाते थे। तत्पश्चात् उन्हें उगने का कार्य करते थे। कुछ लोगों का मानना है कि सामन्तवाद की उत्पत्ति राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को भूमि-दान करने से हुई। ब्राह्मण जिसे उच्च कुल में उत्पन्न हुआ माना जाता था, उन्हें उद्योग-धन्धों से कोई मतलब नहीं था, राजा लोग इन्हें भूमि-दान कर दिया करते थे और ये लोग ही सामन्त के रूप में कार्य करने लगते थे। सामन्तों में स्वेच्छाचारिता अधिक थी। भूमि पर इनका एकाधिकार था। भूमि पर एकाधिकार होने के कारण वे अपने अधीन वर्गों से दासों एवं गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। फिर भी ये असहाय एवं अस्तित्वहीन लोग अपने परम्परागत व्यवसाय को करने के लिए विवश थे क्योंकि जाति-व्यवस्था की भाँति सामन्ती व्यवस्था में भी पेशों का चुनाव पूर्व निश्चित था। प्रत्येक व्यक्ति का पेशा जन्म के साथ ही निर्धारित हो जाता था और वह उसे अपना भाग्य समझ कर स्वीकार भी कर लेता था, किन्तु मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है, वह भाग्य के भरोसे कब तक रह सकता है। उसने जाति-प्रथा पर आधारित सामन्ती व्यवस्था का विरोध किया साथ ही उद्योगों एवं बाजारों के विकास होने के कारण धीरे-धीरे उत्पादन प्रणाली भी बदलने लगी और व्यापारिक पूँजीवाद का जन्म हुआ। इस व्यवस्था में सामन्ती व्यवस्था की भाँति जातीयता के आधार पर कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से प्रतिबन्धित नहीं था। इसका आर्थिक संगठन जातिगत न होकर व्यक्तिगत था जिस व्यक्ति के हाथ में पूँजी होती थी वह अपना उद्योग-धन्धा चला सकता था और अपनी योग्यता एवं निपुणता का उपयोग कर

अधिक से अधिक धन एकत्र कर सकता था। साथ ही इस एकत्रित धन का मालिक वह स्वयं होता था कोई जागीदार अथवा सामन्त नहीं। इस प्रकार जहाँ सामन्ती व्यवस्था में आदमी को व्यक्ति होने का अधिकार नहीं था, वह समूह में गिना जाता था, वहीं पूँजीवादी व्यवस्था व्यक्ति पर ही केन्द्रित थी। इसमें जाति धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं था, जो मानवीय गरिमा की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात थी।

मध्यकालीन समाज धर्म, वर्ण, जाति के चलते मानवीय गरिमा को अत्यधिक ठेस पहुँची थी। समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ पूर्णतया: अपने अधिकारों से वंचित एवं अस्तित्वहीन जीवन व्यतीत कर रही थीं। किन्तु कबीरादि सन्तों ने मानवीय गरिमा को प्राथमिकता प्रदान करते हुए उन्हें उनके अधिकारों के लिए जागृत किया। कबीर धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष समाज की कल्पना करते हैं। उनका हृदय विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत था। उनका मानना है कि उत्पत्ति की दृष्टि से सब समान है। अतः धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उच्चता एवं निम्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग स्वयं को धार्मिक मानते हैं और धर्म, वर्ण, जाति के नियमों का पालन करते हुए सिद्धि की इच्छा रखते हैं वे अज्ञानी हैं क्योंकि सबसे बड़ी सिद्धि समानता का व्यवहार करने में है— 'आपा पर सब एक समान, तब हम पावा पद निरबाण'। कबीर ने ऊँच-नीच का व्यवहार करने वाले मनुष्य को पशु-तुल्य बताया है। पशु-तुल्य इसलिए कहा है क्योंकि भेद-भाव परक दृष्टि मानवीय व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आती। साथ ही इसकी आज्ञा न तो कोई धर्म देता है और न तो कोई कानून। यदि कोई व्यक्ति धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव करता है तो वह धर्म एवं कानून दोनों ही दृष्टि से अपराधी है। इसके लिए उसे दण्डित भी किया जायेगा क्योंकि अन्तिम निर्णय (माँगे न्याव खुदाई) इस सृष्टि के रचयिता का है, जो अवश्य ही न्याय करने वाला है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सभी के साथ समानता का व्यवहार करे।

उसकी सिद्धि की व्यवस्था स्वतः ही हो जायेगी क्योंकि स्वर्ग का निर्माण वस्तुतः भूतल पर ही हुआ करता है।

कबीर ने विश्रृंखलित होते हुए जनसाधारण को सत् मार्ग की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। उन्हें मानवता का पाठ पढ़ाया। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर भेदभाववादी दृष्टि का विरोध कर 'समतावाद' पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जैसे— ऐक्य में विश्वास, जाति-भेद का विरोध, परहित साधन, निष्काम सेवा तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता। कबीर द्वारा प्रतिपादित ये सिद्धान्त मानवता के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये वह सिद्धान्त हैं जो मानवतावाद के पुरातन सिद्धान्तों से हटकर हैं जो तत्कालीन परिस्थिति के लिए आवश्यक थे। कबीर ने मानव तथा मानवीयता पर नये सिरे से चिन्तन किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य इस संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मानव के रूप में जन्म पाना दुर्लभ है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सांसारिक माया-मोह में पड़कर इसे व्यर्थ ही न गंवाए बल्कि मानवोचित गुणों का विकास करके मनुष्य से मनुष्यत्व तथा मनुष्यत्व से देवत्व को प्राप्त कर ले। इसी में मानव तथा मानव निर्मित समाज दोनों का कल्याण निहित है।

**पंचम अध्याय** का शीर्षक है—“वैयक्तिक अस्मिता के आयाम : सामाजिक सरोकार से आध्यात्मिक पूर्णता तक।” इस अध्याय का प्रारम्भ कबीर-काव्य में वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक अस्मिता के निरूपण से होता है। कबीर-काव्य मानवीय अस्मिता को बढ़ावा देता है। जो मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए कबीर ने धर्म, वर्ण व जाति की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया है। वे धार्मिक कर्मकाण्डों को अस्वीकार करते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए कबीर ने सामाजिक तथा धार्मिक कर्मकाण्डों से मुक्त साधना पर बल दिया है क्योंकि वैयक्तिक साधना आत्म-चिन्तन को बल देता है और आत्म-चिन्तन के फलस्वरूप ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है और ब्रह्म-ज्ञानी अथवा ईश्वर का सच्चा साधक समाज के कल्याण

में, उसके विकास में कभी-भी बाधक नहीं हो सकता। वैयक्तिक साधना के साथ ही कबीर के सामाजिक सरोकार का भी अध्ययन इस शोध-प्रबन्ध में सविस्तार हुआ है। साथ ही नारी के प्रति कबीर की दृष्टि और प्रेम सम्बन्धी अवधारणा तथा मुक्ति दर्शन का स्वरूप और कबीर के भक्ति मार्ग की विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है।

कोई भी साहित्यकार अपने समाज का प्रतिनिधि होता है क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है और वह समाज से ही प्रभावित होकर काव्य-सृजन करता है। अतः उसका यह दायित्व बनता है कि वह अपने समाज और देश की नाडी को परखे उसकी धडकन को समझे और फिर काव्य-सृजन करे। कबीर समाज की नब्ज को टटोलने में पूर्ण सफल रहे हैं। उन्होंने समाज में व्याप्त विकृतियों एवं विषमताओं को अत्यधिक सूक्ष्मता से देखा और परखा है। इसे सूक्ष्मता से देखने और परखने के पश्चात् ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि एक स्वस्थ एवं समन्वयशील समाज की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रत्येक व्यक्ति में एकता का भाव न हो और ऐक्य-भाव उनमें तब तक नहीं पैदा किया जा सकता जब तक उन्हें सच्चाई का ज्ञान न हो जाय। अतः सच्चाई का सामना करवाने तथा एकता का भाव पैदा करने के लिए एक ऐसे सूत्र की आवश्यकता थी जो जगत के विभिन्न रूपों में समन्वय स्थापित कर सके। कबीर ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सहज भक्ति-साधना अथवा आध्यात्मिकता का सहारा लिया। आध्यात्मिकता एक ऐसा सूत्र है जो उपरोक्त आवश्यकता की पूर्ति करने में पूर्ण सक्षम है। किन्तु यह आध्यात्मिकता वास्तविकता के समीप होना चाहिए। अर्थात् वास्तविक अध्यात्म चिन्तन ही एक स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है।

कबीर ने आध्यात्मिक पूर्णता के लिए बाह्याडम्बरों का सहारा न लेते हुए स्वानुभूति पर आधारित वैयक्तिक, भक्ति-साधना का उपदेश दिया। वे मानव शरीर को ही परम ईश्वर की वास स्थली मानते हैं। अतः उनकी भक्ति वैयक्तिक अस्मिता को समेटती हुई सामाजिक



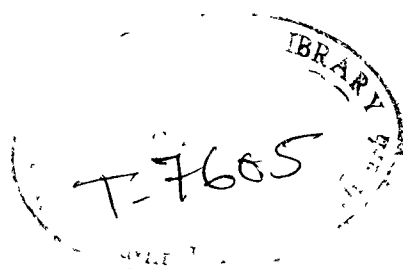
आवश्यकताओं को पूरा कर आध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर होती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीर-काव्य का मूल उद्देश्य मानव कल्याण में निहित है। मानव मात्र के प्रति जैसी आस्था कबीर में दिखायी पड़ती है वैसी आस्था न तो कबीर से पूर्व किसी कवि में थी और न ही उनके बाद किसी अन्य कवि के काव्य में दृष्टिगत हुई। कारण यह है कि कबीर अत्यन्त निर्भीक, साहसी एवं क्रान्तिकारी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने कभी-भी समझौते के मार्ग को नहीं अपनाया और न ही उन्हें कभी किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय हिचकिचाहट या डर का अनुभव हुआ। कबीर का हाथ में मुराड़ा लेकर घर से बाहर निकलना उनकी निर्भीकता एवं मानव-हित में विश्वास का ही प्रमाण है। कबीर की वाणी में वह शक्ति थी जिसने परम्परा से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था को नकार दिया, वेद-शास्त्रों के प्रति अनास्था व्यक्त की तथा अपने युग के विभिन्न धार्मिक रूढ़ियों एवं मिथ्याडम्बरों का घोर विरोध कर वास्तविक धर्म से भारतीय जनता का परिचय कराया। उन्होंने न केवल धार्मिक कुरीतियों पर चोट की बल्कि आर्थिक विषमता एवं सामाजिक निर्योग्यता पर भी गहरा प्रहार किया। उन्होंने अपनी सक्रिय भूमिका के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त खोखलेपन को मिटाकर 'समतावाद' एवं 'मानवतावाद' का ठोस आधार-प्रदान किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। अतः धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उनमें भेद-भाव नहीं किया जा सकता।

आज से कई सौ वर्ष पूर्व कबीर ने धर्म, वर्ण, जाति को नकार कर समानता के धरातल पर जिस सात्विक ज्योति को प्रज्ज्वलित किया था उसकी रोशनी आज भी धुंधली नहीं पड़ी है। अर्थात् कबीर-काव्य आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना तत्कालीन समाज में था, बल्कि हम यह कह सकते हैं कि 21वीं सदी के मूल्यहीनता के दौर में कबीर-काव्य की

आवश्यकता और अधिक महसूस हो रही है। कारण यह है कि जो साहित्य उच्चतर मानव-मूल्यों को प्रस्तुत करता है, वह कभी-भी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। कबीर-काव्य तो सीधे मानव तथा मानव मूल्यों से ही जुड़ा हुआ है। उनका यह काव्य मानव, मानवता तथा मानवीय अस्मिता की खोज करने वाला काव्य है, जो सदैव मानव का दिशा-निर्देश कर उसे मानवता के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता रहेगा।

Ayther





05 JUN 2012



# कबीर-काव्य में मानवीय अरिमता : एक अनुशीलन

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़  
की पी-एच०डी० उपाधि  
हेतु प्रस्तुत  
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक

प्रो० एम. ई. जुबेरी

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़

शोधार्थी

आयशा खातून

हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़

हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,  
अलीगढ़ (30प्र0), भारत

2011





CHAIRMAN


**DEPARTMENT OF HINDI**  
**FACULTY OF ARTS**  
**ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202 002**

Telex : 564-230 AMU IN  
Phones: Off. 2700920 } Ext.  
2700921 } 1460  
2700922 } 1461  
Res. (0571)

**CERTIFICATE**

This is to certify that *Ms. Aysha Khatoon* (D.O.A. 20.11.2006) research scholar in Hindi has submitted her Ph.D. thesis on dated 14.07.2011 on the Topic “**Kabeer Kavya Mein Manveeya Asmita : Ek Anusheelan**”

She was regular for two years from the date of admission in the Department of Hindi and has completed her Ph.D. thesis under the supervision of Prof. M.E. Zuberi, Women's College, Aligarh Muslim University, Aligarh.

  
(Prof. M.E. Zuberi)

**. M.E. ZUBERI**  
*M.A., Ph.D.*

# CERTIFICATE

*Mezhrom*  
(Prof. M.E. Zuberi)  
Supervisor



## समर्पण

सफल बनो तुम, हो जाओ  
अविजित ।

कामना करती, ममतामयी माँ को  
अर्पित ।

करने वाले मेरे पथ को  
आलोकित ।

स्नेही पिता को सादर  
समर्पित ।

०५५९९९

# कबीर-काव्य में मानवीय अस्मिता : एक अनुशीलन

## प्राक्कथन

विषय का महत्त्व और शोध की आवश्यकता—

अस्मिता शब्द कानों तक पहुँचते ही हमारे मन—मस्तिष्क में अनेक प्रश्न कौंध उठते हैं और अनायास ही हम सोचने पर विवश हो जाते हैं कि आखिर किस अस्मिता की बात की जा रही है— नारी अस्मिता, दलित अस्मिता या फिर बिना छत के भूखे—प्यासे जंगलों में खानाबदोश की तरह जीवन व्यतीत कर रहे आदिवासियों की अस्मिता। आजकल समाज में क्षेत्रीय अस्मिता, भाषायी अस्मिता तथा राष्ट्रीय अस्मिता की भी जंग छिड़ी हुई है। निःसंदेह यह समस्त समस्याएँ समाज की ज्वलन्त समस्याएँ हैं जो हमारे लिए चिन्ता का विषय हैं। अतः इस ओर सभी का ध्यान आकर्षित कराना अति आवश्यक है। किन्तु कबीर की चिन्ता किसी एक विषय की चिन्ता नहीं थी, बल्कि उन्हें सम्पूर्ण मानव—जाति की चिन्ता थी। इसी कारण वे सम्पूर्ण मानव—जाति की महत्ता की बात करते हैं, उसके वजूद एवं सत्ता की बात करते हैं, सम्पूर्ण मानवीय अस्मिता की बात करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नर—नारी, दलित—अस्पृश्य सभी जो समाज के तथाकथित पिछड़े हुए लोग थे कबीर—काव्य के चिन्तन के विषय बने। कबीर ने मानवीय अस्मिता को महत्वपूर्ण घोषित करते हुए यहाँ तक प्रश्न कहने का साहस किया कि 'राम बड़ा कि रामहि जानै' किन्तु यहाँ पर उनके कहने का तात्पर्य यह बिल्कुल भी नहीं है कि मनुष्य ईश्वर से बड़ा है, बल्कि उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य इस संसार का श्रेष्ठ प्राणी है। समाज में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। वही सभी वस्तुओं का प्रतिमान है। अतः प्रत्येक मनुष्य को अपनी अस्मिता की पहचान अवश्य होनी चाहिए। इसी अस्मिता की पहचान के लिए कबीरदास हाथ में मुराडा लेकर घर से बाहर निकल पड़े थे—



हम घर जाल्या आपणाँ, लिया मुराड़ा हाथि।

अब घर जालौ तास का, जै चलै हमारे साथि।।

कबीर ने एक नये युग का सूत्रपात करने के लिए दृढ संकल्प लिया और मानवीय अस्मिता की खोज के लिए अग्रसर हुए जो धर्म, वर्ण, जाति के अन्धकूप में कहीं खोती जा रही थी। उन्होंने इन धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध आचरण की शुद्धता और हृदय की विशालता पर बल दिया। मानव-धर्म की पृष्ठभूमि पर अपने सहज धर्म की प्राचीर का निर्माण किया। वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया तथा वर्ग और धर्म के ऐन्द्रजालिक पाश को काटकर मानवीय अस्मिता की रक्षा की।

मैंने स्नातकोत्तर स्तर पर कबीर का अध्ययन करते हुए अनुभव किया कि वस्तुतः कबीर मानवीयता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित हैं और मानव को मानव रूप में देखने की कामना करते हैं। मनुष्य-मात्र का कल्याण और मानवीय अस्मिता की शिनाख्त उनका अन्तिम ध्येय है। परन्तु अभी मानवीय अस्मिता की दृष्टि से कबीर-काव्य का अपेक्षित अध्ययन नहीं किया गया है। प्रासंगिकता के सन्दर्भ में तो अनेक कार्य किये गये हैं किन्तु कबीर-काव्य में मानवीय अस्मिता की शिनाख्त की दृष्टि से शोध की आवश्यकता है। इसलिए मैंने यह निश्चय किया कि मैं कबीर-काव्य में मानवीय अस्मिता विषय पर शोध कार्य करूँगी।

कबीर-काव्य मानवीय अस्मिता की रक्षा का उच्चादर्श प्रस्तुत करता है। उनका मानवतावाद बाह्याडम्बरों पर नहीं, अपितु त्याग, बलिदान, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और अहिंसा पर आधारित था। उनके विचारों का मूल-केन्द्र मानव-धर्म और मानवता की स्थापना थी। उन्होंने न केवल धार्मिक रूढ़ियों के चक्रव्यूह को तोड़ने का साहस किया, अपितु सामाजिक और आर्थिक विद्रूपताओं को कम करने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। अतः कबीरदास मानवीय अस्मिता के रक्षक एवं वर्गहीन समाज के व्यवस्थापक के

रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। जिसकी महत्ता आधुनिक युग में और अधिक बढ़ती जा रही है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मानव तथा मानवीय अस्मिता पर सविस्तार विचार किया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अध्ययन पाँच अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। ये अध्याय निम्नलिखित हैं—

1. भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता और मनुष्यकेन्द्रिकता
2. सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार
3. कबीर की वैचारिकता : धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार का प्रश्न
4. धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य की परिकल्पना
5. वैयक्तिक अस्मिता के आयाम: सामाजिक सरोकार से आध्यात्मिक पूर्णता तक

**प्रथम अध्याय** का शीर्षक है 'भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता और मनुष्य केन्द्रिकता।' प्रस्तुत अध्याय का दो भागों में अध्ययन किया गया है। प्रथम भाग 'लोकोन्मुखता' के अन्तर्गत लोकजागरण की पृष्ठभूमि, भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप समाज में आये सामाजिक आर्थिक बदलावों तथा भक्ति उदय के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है।

इस अध्याय के द्वितीय भाग में 'मनुष्यकेन्द्रिकता' के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति की भूमिका, निम्न एवं पिछड़ी जातियों में प्रतिरोध की चेतना का उदय तथा सन्त-साहित्य एक आन्दोलन का रूप किस प्रकार धारण करता है और उसे कितनी सफलता मिलती है, इस पर विचार किया गया है।

**द्वितीय अध्याय** का शीर्षक है 'सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार।' इस बात का इतिहास गवाह है कि कोई भी घटना एकाएक जन्म नहीं लेती उसके पीछे एक ठोस आधार अवश्य रहता है। सन्त-साहित्य का उदय भी इसी श्रेणी में आता है। इसका

आधार है— शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन, सिद्धों का चिन्तन तथा नाथ योगियों का चिन्तन, जिस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में दर्शन, अध्यात्म और भक्ति पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

**तृतीय अध्याय** का शीर्षक 'कबीर की वैचारिकता : धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार का प्रश्न है।' इस अध्याय में धर्म के परम्परागत स्वरूप, धार्मिक आस्था, आध्यात्मिक चिन्तन, धर्म के संस्थागत रूप और मानवीय सामाजिक अधिकार, धार्मिक निषेध और विकल्प का उल्लेख हुआ है तथा सामाजिक सन्दर्भों में मानवीय अस्मिता की शिनाख्त का भी वर्णन किया गया है।

**चतुर्थ अध्याय** धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य की परिकल्पना से प्रारम्भ होता है। इसमें सामन्ती व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। सामन्ती व्यवस्था के फलस्वरूप लोगों का पूँजीवाद की ओर आकर्षण और उनकी परिकल्पना में आये बदलावों का भी उल्लेख हुआ है। इस अध्याय में मानवीय गरिमा तथा धर्म, वर्ण और जातिगत पहचान के निषेध का वर्णन किया गया है। साथ ही मानव और मानवीयता की नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसके महत्व को भी स्पष्ट किया गया है।

**पंचम अध्याय** का शीर्षक है—“वैयक्तिक अस्मिता के आयाम : सामाजिक सरोकार से आध्यात्मिक पूर्णता तक।” इस अध्याय का प्रारम्भ कबीर-काव्य में वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक अस्मिता के निरूपण से होता है। कबीर काव्य मानवीय अस्मिता को बढ़ावा देता है। मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए कबीरदास ने धर्म, वर्ण व जाति की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया है। वे धार्मिक कर्मकाण्डों को अस्वीकार करते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए कबीर ने सामाजिक तथा धार्मिक कर्मकाण्डों से मुक्त साधना पर बल दिया है क्योंकि वैयक्तिक साधना आत्म-चिन्तन को बल देता है और आत्म-चिन्तन के फलस्वरूप ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है और ब्रह्म-ज्ञानी अथवा ईश्वर

का सच्चा साधक समाज के कल्याण में, उसके विकास में कभी-भी बाधक नहीं हो सकता। वैयक्तिक साधना के साथ ही कबीर के सामाजिक सरोकार का भी अध्ययन इस शोध-प्रबन्ध में सविस्तार हुआ है। साथ ही नारी के प्रति कबीर की दृष्टि और प्रेम सम्बन्धी अवधारणा तथा मुक्ति दर्शन का स्वरूप और कबीर के भक्ति-मार्ग की विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के मार्ग दर्शक श्रद्धेय प्रो० मुफ़ख़्ख़र एहतिशाम जुबैरी के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ जिनके निर्देशन में मुझे कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनका सतत मार्गदर्शन, सहयोग एवं स्नेह मेरे लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है। जिसके फलस्वरूप मैं अपना शोध-प्रबन्ध पूर्ण करने तथा प्रस्तुत करने में समर्थ हुई। उनके मार्ग-दर्शन और सहयोग की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। यदि उनका निर्देशन न मिला होता तो यह कार्य मेरे लिए असम्भव था, क्योंकि गुरु ही वह सच्चा मार्गदर्शक होता है जो हर मुश्किल घड़ी में अपने शिष्य की सहायता करता है, उसे सत्य की पहचान कराता है तथा प्रतिक्षण उसका दिशा-निर्देश करता है। गुरु द्वारा किये गये इसी उपकार के कारण कबीर ने, गुरु की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा था—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागौ पायँ।

बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय ॥

हिन्दी विभाग के अन्य गुरुजनों में मुख्य रूप से पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० प्रदीप सक्सेना की मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरा साथ दिया। साथ ही प्रो० आशिक अली बालौत, प्रो० अलीम, प्रो० आरिफ नज़ीर, प्रो० भरत सिंह, प्रो० रमेश रावत, डॉ० मेराज अहमद, श्री अजय बिसारिया, डॉ० तस्लीम सुहैल तथा डॉ० इफ्फत असगर, डा० रेशमा बेगम के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करती हूँ। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के गुरुजनों के साथ ही अन्य गुरुजनों विशेष रूप से

रीता कुमारी एवं रेखा अग्निहोत्री के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनसे मुझे समय-समय पर प्रेरणा मिलती रही है। इसके साथ ही मैं अपनी फरह आण्टी के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने बड़ी ही उदारता एवं पूर्ण आत्मीयता के साथ समय-समय पर मेरा उत्साह-वर्धन किया। कबीर साहित्य के उन विद्वानों के प्रति भी मैं विशेष रूप से श्रद्धावन्त हूँ जिनकी पुस्तकों तथा विचारों ने मेरी सहायता की है।

मैं हिन्दी विभाग के कर्मचारियों में मौ० सलमान भाई, परवेज आपा, बिसारत भाई, माज भाई, शकील भाई, अहमद भाई, बहाव भाई, सादाब भाई के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका सहयोग एवं समर्थन मेरे लिये अत्यन्त लाभकारी रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की रचना करते समय मौलाना आज़ाद लाइब्रेरी के समस्त कर्मचारियों विशेष रूप से पीर मोहम्मद भाई, नदीम भाई तथा मोहसिन भाई के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ जिन्होंने बड़ी उदारता पूर्वक सहयोग प्रदान करके, इस कार्य को सम्पन्न कराया।

श्रद्धेय पिता जी श्री मुन्सरिम ख़ान तथा माता श्रीमती जन्नतुल बेगम की मैं आजीवन ऋणी रहूँगी जिन्होंने विभिन्न कष्ट सहकर भी मुझे प्रस्तुत शोध कार्य को करने की प्रेरणा दी। मेरे प्रिय भाइयों मोहम्मद इक़बाल अहमद ख़ान, नूर मोहम्मद ख़ान, इरफ़ान अहमद ख़ान का सहयोग तो विशेष रूप से रहा ही है साथ ही साथ मेरे ममेरे भाइयों डॉ० नफीस अहमद ख़ान तथा सईद अहमद ख़ान के सहयोग को मैं कभी नहीं भूल सकती जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने के लिए हर कदम पर मेरा साथ दिया। मैं अपनी बड़ी बहन हाजरा ख़ातून, फातिमा ख़ातून तथा छोटी बहन कुरेशा ख़ातून तथा बहनोई साहब मोहम्मद रियाज़ अहमद ख़ान एवं इनामुल हक के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करना अपना फर्ज समझती हूँ जिन्होंने मुझे स्नेहिल प्यार दिया तथा हर मुश्किल घड़ी में मेरा साथ देकर मेरा उत्साह-वर्धन किया।

मैं अपने सहयोगी मित्रों विशेष रूप से महरीन आपा, सायमा आपा, नसीम अख्तर, फरहत जहाँ, शीबा रहमान, प्रेरणा माहेश्वरी, फरह खान, असमा जावेद, नाजिया कमाल, नीलम शर्मा, रीतेश कुमारी तथा शशिकान्त शर्मा, शाहबाज अली खान, अखलाक चौधरी, इमरान खान, कपिल कुमार एव छोटे भाई के समान वाजिद, विनीत, सचिन, पवन का भी हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिनसे मुझे प्रतिक्षण सहयोग मिला है।

अन्त में मैं रामजीलाल भाई तथा उनके सुपुत्र मनोज कुमार का भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ जिन्होंने कम से कम समय में शोध प्रबन्ध का कुशलता के साथ टंकण कार्य पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया तथा टंकण सम्बन्धी त्रुटियों का यथासम्भव निराकरण भी किया फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो मैं उसके लिए क्षमा चाहती हूँ।



(आयशा खातून)

हिन्दी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

अलीगढ़

# विषयानुक्रमणिका

## कबीर-काव्य में मानवीय अस्मिता : एक अनुशीलन

पृ०सं०

प्राक्कथन

i-vii

अध्याय : प्रथम

- |   |   |      |
|---|---|------|
|   | भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता और मनुष्यकेन्द्रिकता     | 1-64 |
| 1 | लोकोन्मुखता   |      |
|   | क. लोकजागरण की पृष्ठभूमि                              |      |
|   | ख. सामाजिक-आर्थिक बदलाव                               |      |
|   | ग. भक्ति का उदय                                       |      |
| 2 | मनुष्यकेन्द्रिकता                                     |      |
|   | क. सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति की भूमिका             |      |
|   | ख. निम्न एवं पिछड़ी जातियों में प्रतिरोध चेतना का उदय |      |
|   | ग. सन्त-साहित्य : एक आन्दोलन के रूप में               |      |

अध्याय : द्वितीय

- |   |                              |       |
|---|------------------------------|-------|
|   | सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार | 65-94 |
| 1 | शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन    |       |
| 2 | सिद्धों का चिन्तन            |       |
| 3 | नाथ योगियों का चिन्तन        |       |
| 4 | दर्शन, अध्यात्म और भक्ति     |       |

अध्याय : तृतीय

- |   |   |        |
|---|---|--------|
|   | कबीर की वैचारिकता : धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार का प्रश्न | 95-142 |
| 1 | धर्म के परम्परागत रूप पर प्रश्न चिह्न                         |        |
| 2 | धार्मिक आस्था बनाम आध्यात्मिक चिन्तन                          |        |
| 3 | धर्म का संस्थागत रूप और मानवीय सामाजिक अधिकार                 |        |
| 4 | निषेध और विकल्प   |        |
| 5 | सामाजिक सन्दर्भों में मानवीय अस्मिता                          |        |

## अध्याय : चतुर्थ

धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य की परिकल्पना 143—179

1. सामन्ती व्यवस्था से व्यापारिक पूँजीवाद की ओर संक्रमण और मनुष्य की परिकल्पना में बदलाव
2. मानवीय गरिमा की प्राथमिकता
3. धर्म, वर्ण और जातिगत पहचान का निषेध
4. मानव और मानवीयता की नयी व्याख्या

## अध्याय : पंचम

वैयक्तिक अस्मिता के आयाम : सामाजिक सरोकार 180—223

से आध्यात्मिक पूर्णता तक

1. कबीर—काव्य में वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक अस्मिता का प्रश्न
2. कबीर के सामाजिक सरोकार और वैयक्तिक भक्ति—साधना का अन्तःसंघर्ष
3. नारी के प्रति कबीर की दृष्टि और प्रेम की अवधारणा
4. मुक्ति का दर्शन और कबीर का भक्ति—मार्ग

उपसंहार 224—233

सहायक ग्रन्थ—सूची 234—247



# अध्याय—प्रथम

भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता  
और मनुष्यकेन्द्रिकता

## अध्याय : प्रथम

### भक्ति-आन्दोलन की लोकोन्मुखता और मनुष्यकेन्द्रिकता

“भक्ति-आन्दोलन स्वतः स्फूर्त जन-चेतना से युक्त है जिसका प्रेरक है-धर्म, पर जिसे खाद-पानी मिलता है समाज से।” अतः भक्ति-आन्दोलन सामान्यतः एक धार्मिक आन्दोलन है जिसका आधार समाज है। भक्ति-आन्दोलन का जन्म जिन धार्मिक जटिलताओं के कारण हुआ, वह जटिलताएँ समाज में ही उच्च वर्णों द्वारा अपने लाभ के लिए सर्जित की गयी थीं। वास्तविक धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। उदाहरणस्वरूप भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था, जो धर्म पर आधारित थी। हिन्दू शास्त्रकारों ने इसके अनुसार उच्चता से निम्नता के क्रम में विभिन्न वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण किया जिसका उद्देश्य था-समाज में सरल श्रम-विभाजन करना। किन्तु धीरे-धीरे इसमें जटिलताएँ आने लगीं और उच्चता से निम्नता के क्रम में किये गये इस सामाजिक विभाजन के कारण निम्न जातियाँ विभिन्न मानवीय अधिकारों से वंचित हो गयीं। जिसमें भक्ति का अधिकार भी शामिल है। एक लम्बे अरसे तक ये निम्न जातियाँ इसे अपना भाग्य समझती रहीं। किन्तु सन्तों की वाणी के माध्यम से इनमें जागरूकता आयी। फलस्वरूप समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सक्रिय हो उठीं। यद्यपि “आरम्भ में भक्ति का सम्बन्ध धर्म और अध्यात्म-चिन्तन से रहा है, लेकिन मध्ययुग में यह ठोस सामाजिक अभिप्रायों से युक्त होकर व्यापक आन्दोलन का रूप धारण कर लेती है, जिसका उद्देश्य होता है-आततायी सामन्तीय शासक वर्ग से छुटकारा पाना। यह आन्दोलन तत्कालीन समाज के तमाम स्तरों को बहुत गहरे प्रभावित करता है।’ ऐसा तबका जिसमें आत्मसम्मान, आत्ममर्यादा और आत्मप्रतिष्ठा की उत्साह-भरी ललक है, अपना दायभाग प्राप्त करने के लिए सक्रिय हो उठता है। ‘हरिजन’

या 'ईश्वर-भक्ति' के आधार पर जाति-पाँति की व्यर्थता और मानव-मात्र की एकता का यह प्रथम उद्घोष है जिसकी अनुगूँज इतने वर्षों बाद आज भी सुनाई पड़ जाती है।<sup>2</sup> दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भक्ति एक धार्मिक प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं से होता है और इस पर सभी का समान अधिकार है। किन्तु वर्ण-व्यवस्था के कारण यह अधिकार केवल उच्च जातियों के पास था। निम्न जातियाँ इस अधिकार से वंचित थी। धीरे-धीरे यह वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी। जिसका लाभ सामन्ती व्यवस्था ने भी उठाया। पूर्व में जो शोषण वर्ण के आधार पर हो रहा था, अब जातीयता के आधार पर होने लगा था। जिसके कारण भक्ति-आन्दोलन का उदय हुआ। अतः मध्यकाल में भक्ति को एक नयी चेतना के साथ समानता के धरातल पर पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया, जिसे हम भक्ति-आन्दोलन के नाम से जानते हैं।

### 1. लोकोन्मुखता

“जिस समय भारत के राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षितिज पर भी चुनौतियों के काले स्याह मेघ मँडरा रहे थे, सारा देश उद्वेलित था, जनता आगे की राह ढूँढने के लिए व्याकुल थी। ऐसे समय में एक युगांतरकारी घटना घटित हुई जिसने देश के कोटि-कोटि सन्तुष्ट लोगों को आगे की राह दिखा दी। वह घटना भक्ति आन्दोलन थी। भक्ति की यह उद्दाम लहर देशव्यापी विशाल आन्दोलन बन गया था।<sup>3</sup> इसका सीधा सम्बन्ध लोक से था। लोक अर्थात् अति सामान्य जनता जो सामाजिक अवहेलना की शिकार, अत्यधिक शोषित, दलित एवं उत्पीड़ित थी, उनके लिए यह आन्दोलन वरदान सिद्ध हुआ, क्योंकि भक्तिकालीन सन्तों ने उनके उत्थान के लिए अपेक्षित जीवन-मूल्यों की स्थापना की, उन्हें जीने की राह दिखायी। इसी कारण “यह आन्दोलन एकान्त जनान्दोलन के रूप में भारतीय जनता के मध्य में अभिव्यक्त हुआ। इस आन्दोलन का सम्बन्ध केवल

तत्त्व चिन्तकों या शास्त्रचिन्तकों तक ही सीमित नहीं रहा वरन् इसका प्रसार जनता के आन्दोलन के रूप में हुआ। भक्ति के इस उत्थान का सम्बन्ध भारतीय जनता के उस स्तर से विशेष रूप से था जो युग-युग से उपेक्षित और अनादृत था।<sup>4</sup> भक्ति-आन्दोलन के रूप में उन्हें एक सफल एवं सुदृढ मन्त्र मिला जो जनजागृति का एक ऐसा सशक्त माध्यम बना जिसमें सभी सामाजिक बुराईयाँ धीरे-धीरे भस्मसात् होने लगीं। इस सफलता के पीछे सन्त कवियों द्वारा अपनाया गया 'सत्संग मार्ग' भी था, "जिसमें राजा-परजा, अमीर-गरीब सब लोग सत्संग-केन्द्र में आत्मिक सुख के लिए आने लगे थे। इन संतों ने मानवता और सौहार्द की इतनी जबरदस्त भावना पैदा कर दी थी कि सत्संग की इस पाठशाला में लौकिक और पारलौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए सारे भेदभाव मिटाकर सब लोग आने लगे थे। संतों ने ऐसी परंपरा की शुरुआत की कि राजा अपना मान त्यागकर, गरीब अपनी हीनता के भाव छोड़कर संतों के साथ ज्ञान-चर्चा में बैठने लगे थे।"<sup>5</sup> अतः सन्तों द्वारा अपनाया गया यह सत्संग मार्ग विश्व-बन्धुत्व और भाईचारे की भावना का आदर भाव सभी में जागृत कर रहा था।

इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन जन-जीवन की एक महान् क्रान्ति का सूचक था। "इसमें कोटि-कोटि दलितों, पीड़ितों और शोषितों के मन में आत्मसम्मान पूर्वक जी सकने की आशा और विश्वास का संचार करने की शक्ति थी।"<sup>6</sup> इसी कारण इसे मध्यकाल के एक महान जन-आन्दोलन की संज्ञा दी जाती है।

स्पष्ट है कि समाज में व्याप्त कुरीतियों को मिटाने, ऊँच-नीच की संकीर्ण भावनाओं को नष्ट करने तथा विश्रृंखलित होती हुई सम्पूर्ण मानव जाति को संगठित करके उनमें नवीन प्राण फूंकने का जो साहसिक कार्य मध्यकालीन सन्तों ने किया वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह आन्दोलन लोकप्रिय

हुआ।

### क. लोकजागरण की पृष्ठभूमि

‘लोकजागरण’ दो शब्दों के मेल से बना है— लोक + जागरण। बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार लोक का तात्पर्य है—‘संसार, मानव जाति या समाज’<sup>7</sup> तथा जागरण का तात्पर्य ‘पिछड़ेपन का ज्ञान और आगे बढ़ने की आकांक्षा उत्पन्न होने की स्थिति से है।’<sup>8</sup> अथवा यह “किसी वर्ग या जाति की वह अवस्था है जिसमें वह गिरी हुई दशा से निकलकर उन्नत होने का प्रयत्न करती है।”<sup>9</sup> लाक्षणिक अर्थ में जागरण वह अवस्था है जिसमें किसी जाति, देश समाज आदि को अपनी वास्तविक परिस्थितियों और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है तत्पश्चात् वह अपनी उन्नति और रक्षा के लिए सचेत हो जाता है अर्थात् लोकजागरण मानव जाति की आत्मा, मन और मस्तिष्क की चैतन्यावस्था का प्रतीक है।

डॉ० बलदेव वंशी कहते हैं कि “हमारी दृष्टि में वह सब लोक है, जो पर-लोक नहीं है। हमारे यहाँ दो ही विभाजन हैं— एक लोक है इहलोक और दूसरा परलोक।”<sup>10</sup> लोक में ही संवेदना, शक्ति एवं चैतन्य सम्भावनाएँ निहित रहती हैं और इसी कारण वह गतिशील रहता है। किन्तु कभी-कभी किसी कारणवश उनकी गतिशीलता बाधित हो जाती है और उनकी चेतना शक्ति शिथिल पड़ने लगती है। ऐसी अवस्था में आवश्यकता पड़ती है लोकनायक की जो लोक में सोई हुई चेतना को जगाकर उसका प्रयोग लोकहित में करता है। “अतः कहना न होगा कि संवेदना, चेतना, शक्ति लोक में ही निहित है। लोकनायक उसको लक्ष्य करता, जगाता, संग्रह करके, संगठित करके, अन्याय, असत्य से भिड़ा देता है। अन्याय-अत्याचार को परास्त करके त्राण दिलाता है।”<sup>11</sup> उदाहरणस्वरूप मध्यकालीन सन्त, जिन्होंने लोकनायक की अहम भूमिका अदा करते हुए लोकजागरण का शंखनाद किया। जिसकी ध्वनि चारों दिशाओं में गूँजने लगी।

“हमारे देश के इतिहास में जब-जब अंधकार के युग आए हैं, उस-उस समय नई चेतना भी आई है। इन्हें आन्दोलन कहा गया है, जागरण कहा गया है, पुनर्जागरण कहा गया है और नवजागरण भी कहा गया है। अलग-अलग शताब्दियों के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रचलन हुआ।”<sup>12</sup> इसी क्रम में भक्ति-आन्दोलन भी आता है जिसे मध्ययुग में लोकजागरण की संज्ञा दी गयी। जिसका कारण था इसकी लोकोन्मुखता। इसे स्पष्ट करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं कि “भक्ति आंदोलन में शूद्रों, मुसलमानों और स्त्रियों ने बड़े पैमाने पर भाग लिया। इसलिए उस आंदोलन ने सीमित नव-जागरण का नहीं, व्यापक लोक-जागरण का रूप लिया।”<sup>13</sup>

यदि हम भक्ति-आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में लोकजागरण की पृष्ठभूमि का अवलोकन करें तो हमें इस युग के सभी क्षेत्रों में लोकजागरण की शंखनाद सुनायी पड़ती है। लोक-कल्याण के लिए यह अति आवश्यक भी था क्योंकि यह युग अत्यन्त अशान्ति, विक्षोभ और संघर्ष का युग था। “वस्तुतः तत्कालीन संघर्षों का मूल कारण लोगों में स्वयं को श्रेष्ठ समझने की भावना तथा निजी अधिकार बढ़ाने का प्रयत्न था। कोई सुख सम्पत्ति पाने के लिए प्रयत्नशील था तो कोई धार्मिक एवं साहित्यिक ख्याति पाने के लिए। सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में होड़ थी। निर्बल पीछे रह जाता था और सबल आगे बढ़ जाता था।”<sup>14</sup> चारों तरफ अव्यवस्था का बोलबाला था। सामान्य जनता सामाजिक आध्यात्मिक आज़ादी के लिए तड़प रही थी। इस तड़प को भक्ति-धारा के सन्त कवियों ने महसूस किया। सन्त सच्चे लोकमंगलकारी थे। लोकहित ही उनका चरम उद्देश्य था। वे समाज में फैली सभी विकृतियों को समाप्त कर देना चाहते थे। अतः भक्ति-आन्दोलन का जन्म लोकजागरण की पीठिका पर हुआ जिसका अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर कर सकते हैं—

राजनीतिक लोकजागरण

आर्थिक लोकजागरण

सामाजिक लोकजागरण

धार्मिक लोकजागरण

**राजनीतिक लोकजागरण**

मध्यकाल राजनीतिक संघर्षों का काल था। राजा—महाराजा अपने राज्य विस्तार में व्यस्त रहते थे। धन का मोह उनमें अत्यधिक था। वे अपने धन और बल का प्रयोग अपने भोग—विलास की वस्तुओं के लिए किया करते थे। जनता का ख्याल उन्हें लेशमात्र भी नहीं था, जिसके कारण साधारण जनता का जीवन संकटपूर्ण हो गया था। उनमें जीवन के प्रति उदासीनता व्याप्त हो गयी थी। साथ ही उनमें राष्ट्रीय भावना का भी लोप हो गया था। “हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के इस सुदीर्घ समय को राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है— (क). प्रथम भाग 1375 से 1583 सं० तक। (ख). 1583 से 1700 सं० तक। प्रथम भाग में दिल्ली पर तुगलक और लोधी वंश के शासकों ने राज्य किया और द्वितीय भाग में मुगलवंश के बाबर हुमायूं अकबर जहांगीर तथा शाहजहां ने।”<sup>15</sup> इस समय भारतवर्ष घोर निराशा के दौर से गुज़र रहा था। राजा—महाराजा छोटी—छोटी बात को लेकर युद्ध के लिए तैयार हो जाया करते थे। उनमें कोई आपसी तालमेल नहीं था। पारस्परिक फूट, ईर्ष्या तथा कूटनीति का ही बोलबाला था। “हर एक जाति, धर्म और वर्ग के लोग संकुचित वृत्ति के हो गये थे। राष्ट्रीय भावना का लोप हो गया था।”<sup>16</sup> ऐसी परिस्थितियों में साधारण जनता की रक्षा कौन करता। साधारण जनता में भी राजनीति के प्रति उदासीनता आने लगी थी। ‘कोय नृप होय, हमें का हानि’ की धारणा चरितार्थ हो रही थी। किन्तु परिस्थितियाँ बदलते देर नहीं लगती। जब मानव की सहन शक्ति का अन्त हो जाता है तब मानव चेतना जागृत होती है और तब दुनियां की कोई भी ताकत उसके सामने नहीं टिक सकती। यही हुआ मध्यकालीन समाज में। भक्ति—आन्दोलन

के रूप में लोकजागरण की किरण फूट पड़ी उस समय के राजा-महाराजाओं और सामन्तों की शोषण तथा दमन नीति का खुलकर विरोध किया गया। कबीर कहते हैं कि जो लोग सांसारिक मोह-माया में उलझे हुए हैं वे लोग मूर्ख हैं—

कबीर इस संसार में घणै मनिष मतिहीण ।

राम नाम जाँणों नहीं, आये टापी दीन ॥<sup>17</sup>

किन्तु संसार में ऐसे पथ भ्रष्ट लोगों की कमी नहीं है जो लोग लोभवश झूठ और कपट से धन एकत्रित करते हैं। कबीर कहते हैं कि यह उनकी सबसे बड़ी अज्ञानता है क्योंकि मृत्यु अवश्यम्भावी है और मृत्यु के पश्चात् सारा धन यहीं छूट जाता है—

खोट कपट करि यहु धन जोर्या, लै धरती मैं गाड़्यौ ॥

रोक्यो घटि साँस नहीं निकसै, ठौर ठौर सब छाड़्यौ ॥<sup>18</sup>

अतः अपने निजी स्वार्थ के लिए धन को एकत्रित करके नहीं रखना चाहिए। जबकि कबीरकालीन समाज में स्वार्थवश धन एकत्र करना आम बात थी। राजा द्वारा प्रजा का ध्यान नहीं रखा जाता था। एक ओर राज कोश स्वर्ण-मुद्राओं से भरा रहता था और दूसरी ओर सामान्य जनता को अनेक आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था जो अत्यन्त दुःखद बात थी। सावित्री चन्द्र 'शोभा' कहती हैं कि—“कबीर धन या धनवानों और अमीरों के खिलाफ नहीं थे। वे धन के दुरुपयोग और उसके कारण अभिमान या घमण्ड और उसके प्रति लोलुपता रखने के लिए अपनी वेदना जताते हैं।”<sup>19</sup> वास्तव में कबीर एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं कि जिसमें अमीर और गरीब की खाई न हो। धनी को चाहिए कि वह निर्धन का ख्याल रखे, अन्यथा उसका धन उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार खजूर के पेड़ पर लगा फल—

बडा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड खजूर ।



पंछी को छाया नहीं फल लागै अति दूर।<sup>20</sup>

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर ने एक ओर धन की सामाजिक और मानवीय उपयोगिता बतायी है, तो दूसरी ओर यह उनका धनी वर्ग के प्रति एक प्रकार का व्यंग्य भी है कि जो आश्रितों, बेसहारा, मजबूर और हर प्रकार से साधनहीन मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता, उन्हें प्रेम और सहानुभूति नहीं प्रदान कर सकता, वह बड़ा कैसे हो सकता है? अतः कबीर जी का मानना है कि राजा अपनी प्रजा से प्रेम करने वाला होना चाहिए—

‘अब मैं पायौ राजा राम सनेही’<sup>21</sup>

कबीर कहते हैं कि मुझे तो प्रेम करने वाले राजा की प्राप्ति हो गयी है। रे जीव! तुम भी ऐसे ही पेड़ की मूल का सिंचन करो जिसकी डाल आप्यायित हो जाये और पेड़ के फलादिक सब लाभ प्राप्त हो सकें—

कहै कबीर सेवौ बनवारी, सींचौ पेड़ पीवै सब डारी।<sup>22</sup>

### आर्थिक लोकजागरण

यदि मध्यकालीन समाज की आर्थिक-व्यवस्था पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलता है कि मध्यकालीन समाज की संरचना सामन्तवादी थी, जो जाति-व्यवस्था पर आधारित थी। इसके अनुसार सभी जातियों का विभाजन कर्म के आधार पर किया गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी के अपने-अपने जातीय कर्म थे। किन्तु “सभी लोग अपनी-अपनी जाति में थोथापन एवं असंतोष का अनुभव कर रहे थे। ब्राह्मण केवल पठन-पाठन के अधिकारी होने के कारण धनहीन थे। क्षत्रिय अपने राज्य की रक्षा के लिये युद्ध क्षेत्र में कटते-मरते थे पर अन्य लोग सुरक्षित थे। वैश्य लोग परिश्रम से खेती में काम करते थे और उनकी आय का अधिकांश भाग राजस्व में चला जाता था। शूद्र सबकी सेवा करने पर भी भूखे और वस्त्रहीन थे।”<sup>23</sup> साथ ही “बड़े भूस्वामियों की ज़ेतों पर श्रमिक

किराये पर रखे जाते थे और कभी-कभी जबरन उनसे काम कराया जाता था”<sup>24</sup> कभी-कभी उन्हें भूखे पेट भी रहना पड़ता था—

लरिकी लरिकन खैबो नाहि<sup>25</sup>

सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वे इतने भी साधन सम्पन्न नहीं थे कि कोई स्वरोजगार कर सकें। अतः आर्थिक विषमता के कारण इन साधनहीन गरीब जनता ने सामन्ती व्यवस्था की दासता को स्वीकार कर लिया था—

द्वार धनी के पड़ि रहै धका धनी का खाय।

कबहुँक धनी निवाजई जो दर छॉडि न जाय।<sup>26</sup>

किन्तु तुलसी ने ‘वेद धर्म दूर गये भूमि चोर भूप भये’ कहकर राजव्यवस्था के प्रति अपनी असन्तुष्टि जताई है।

तत्कालीन स्थिति में शासकीय अधिकारियों और जमींदारों द्वारा गरीब किसानों की जमीन हथियाने की प्रवृत्ति सामान्य हो गयी थी। इस शुद्ध सामन्ती प्रवृत्ति के अधीन साधारण जनता का जीवन निर्वाह करना अत्यधिक दुःखदायी था। साथ ही जाति-व्यवस्था इन्हें ऊपर उठने नहीं दे रही थी। जातीयता के आधार पर पेशे का विभाजन होने के कारण समाज में आर्थिक असमानता बनी हुई थी। इस सन्दर्भ में डॉ० प्रह्लाद मौर्य कहते हैं कि “प्राचीन भारतीय समाज ने कुछ ऐसी धर्म एवं जाति के नाम पर दुर्व्यवस्था कर रखी थी जिससे कि समाज में आर्थिक असमानता का विविध स्तर बन चुका था।”<sup>27</sup> इस आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए आवश्यक था जातिगत उच्चता एवं निम्नता के भाव को समाप्त करना। इसके लिए कबीर लगातार प्रयत्नशील दिखाई पड़े हैं। वे कहते हैं कि—

ऊँचे कुल क्या जनमियों, जे करणीं ऊँच न होइ।

सोवन कलस सुरे भर्या, साधूँ निंघा सोइ।<sup>28</sup>

## सामाजिक लोकजागरण

भक्ति-आन्दोलन सामाजिक लोकजागरण का सशक्त माध्यम था। इसके द्वारा समाज में अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए। सन्तों द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि यह देश के कोने-कोने में फैल कर जन-जन में व्याप्त हो गया। सन्त विवेकदास आचार्य कहते हैं कि—“मध्ययुग में संतों ने पुनर्जागरण का जो काम किया था, जो जनजागृति फैलायी थी, जो सबको अधिकार सम्मान दिलाया था इसी के परिणाम स्वरूप यह जनजागृति अभियान देश-भर में भक्ति आंदोलन के रूप में खड़ा हो गया।”<sup>29</sup> इस आन्दोलन में उन सन्तों की मुख्य भूमिका है जो नाई धुनिया, दर्जी, जुलाहा आदि समाज के तथाकथित निम्न जाति के थे।

सन्त कवियों ने एक ओर अपनी उपदेशात्मक वाणी के माध्यम से साफ-सुथरी जनोपयोगी व्यवस्था की प्रस्तावना की, तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था के अत्याचारों और धार्मिक पाखण्डों के खिलाफ जोर-शोर से आवाज़ उठाकर जन-चेतना और जन जागरण का बिगुल बजाया। ऊँची और पवित्र कही जाने वाली जातियों को अपने शब्द वाण से आहत कर समाज को ज़बरदस्त चुनौती दी। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि तुम्हीं ईश्वर के बनाये हुए ऊँचे और पवित्र नहीं हो क्योंकि हम सबका जन्मदाता एक है—

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।

एक ही खाक घड़े सब भाँड़े, एक ही सिरजनहारा।।<sup>30</sup>

फिर कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कैसे हो सकता है। यह एक कृत्रिम व्यवस्था है, जिसे तुमने अपनी चतुराई से बना लिया है, इसलिए यह हमें मान्य नहीं है—

“तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद्र, हम कत लोहू तुम कत दूध।।”<sup>31</sup>

इस सच्चाई को जनमानस तक पहुँचाना वे अपना धर्म समझते थे। वे

जनसाधारण को सजग कर देना चाहते थे कि तुम्हें स्वयं को हीन समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। यद्यपि सबके लिए अधिकारों की बात करना और सबके भीतर अधिकारों का बोध कराना दोनों ही मुश्किल काम था। किन्तु इस मुश्किल काम को सन्त कवियों ने बड़े ही साहस के साथ भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात करके किया। “जनचेतना के स्तर पर यह सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्रांति की ज्वालामुखी थी। इस ज्वालामुखी फटने जैसे आंदोलन के सामने शासन व्यवस्था और पुरोहित-तंत्र दोनों ही पंगु हो रहे थे।”<sup>32</sup> निःसंदेह सामान्य जनता के जड़ीभूत जीवन में चैतन्य की जागृति इन्हीं सन्तों के द्वारा उत्पन्न की गयी। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—“उनकी एकेश्वरवादी भावना, सामाजिक भेद-भाव विहीनता तथा धार्मिक समानता के वैशिष्ट्य ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नवजागरण एवं स्वालम्बन का भाव उठने लगा और उसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्चवर्गीय लोगों को भी अपने नियन्त्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गये।”<sup>33</sup>

### धार्मिक लोकजागरण

धार्मिक दृष्टि से भक्ति-आन्दोलन का विशेष महत्व है। कबीरादि सन्तों ने धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त बाह्याडम्बरों का खण्डन किया तथा भक्ति के लिए एक नवीन मार्ग का निर्माण किया। जिसमें जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि के लिए कोई जगह नहीं थी। सभी समान रूप से ब्रह्म-साधना के अधिकारी थे। कबीर का मानना है कि भेदभावादी दृष्टि रखने वाला व्यक्ति सच्चा भक्त हो ही नहीं सकता क्योंकि “जो तत्त्वदर्शी है, जिसने भगवान को सर्वत्र देखने का अभ्यास कर लिया है, वह कंचन-लोहा को कष्ट-सुख को, नीच-ऊँच को ‘समसरि’ देखता है। वह न भगवान् की चापलूसी करता है और न असहाय की उपेक्षा। वह किसी के ऐश्वर्य से आकृष्ट नहीं होता। और न वह किसी के आतंक से भयभीत होता है।”<sup>34</sup>

वह समदर्शी होता है। कबीर कहते हैं कि सभी व्यक्तियों के प्रति समानता की दृष्टि रखने वाला व्यक्ति ही सच्चा भक्त है और उसे ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है—

‘अपना सा जिव सबको जानै, ताही मिलै अविनासी।’<sup>35</sup>

आध्यात्मिकता उस समय की मांग थी। अतः सन्तों ने भक्ति-आन्दोलन के माध्यम से भक्ति-साधना को सर्वसुलभ तथा सहज बनाने का प्रयास किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के भीतर व्याप्त है, उसे अन्य स्थलों पर ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है और न ही उच्च कुल में जन्म लेना ज़रूरी है। ईश्वर की प्राप्ति उसी को हो सकती है जो उसका सच्चा भक्त है। ‘जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई’ ही भक्ति-आन्दोलन का मूल मन्त्र था। इसी कारण भक्ति-आन्दोलन व्यापक, जनप्रिय और देश-व्यापी बना।

अतः स्पष्ट है कि मध्यकालीन समाज सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सभी दृष्टि से अव्यवस्थित था। इस अव्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए जनजागृति का अभियान छेड़ना अति आवश्यक हो गया था। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के उद्देश्य सम्बन्धी एकता पर प्रकाश डालते हुए के० दामोदरन ने लिखा है—“भक्ति-आन्दोलन उस समय आरम्भ हुआ था, जब हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों और उनके द्वारा समर्थित और समूह किये गये निहित स्वार्थों के खिलाफ संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था। जनता को, जो अब तक क्षेत्रीय निष्ठाओं से आबद्ध थी और युगों पुराने अंधविश्वासों और दमन-शोषण के बावजूद हतोत्साह नहीं हुई थी, जगाया जाना और अपने हितों तथा आत्म-सम्मान की भावना के लिए उसे एक किया जाना आवश्यक था।”<sup>36</sup> इस आवश्यक कार्य को पूरा करने का बीड़ा मध्यकालीन सन्त कवियों ने उठाया और भक्ति-आन्दोलन के रूप में ज्वालामुखी के समान इसे प्रस्फुटित कर दिया जो देखते-ही-देखते देश-भर में

फैल गया।

### ख. सामाजिक-आर्थिक बदलाव

जिस समय मध्यकालीन समाज अनेक प्रकार से मिथ्या बन्धनों में जकड़ा हुआ था उस समय भक्ति-आन्दोलन समाज में लोकजागरण का एक नया आलोक लेकर प्रस्तुत हुआ। देखते-ही-देखते उसकी रोशनी चारों तरफ फैलने लगी। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

### सामाजिक बदलाव

'Change is the law of nature' अर्थात् परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः कोई भी वस्तु सदैव एक सी नहीं रहती, उसमें बदलाव आना अवश्यम्भावी है। जैसे— एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु का आना, बचपन के बाद जवानी और फिर बुढ़ापे का आना, दिन के बाद रात और सुबह के बाद शाम का होना का होना; परिवर्तन की अवस्था को ही सूचित करता है। अतः "परिवर्तन अवश्यम्भावी है क्योंकि यह प्रकृति का नियम है। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थिर रहता हो। उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन सदैव होता रहता है। प्रकृति में जड़ एवं चेतन अर्थात् प्रत्येक जीव एवं सभी प्रकार की वस्तुओं में निरन्तरता और गतिशीलता इसी के द्वारा सम्भव हो पाती है।"<sup>37</sup>

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और चूँकि समाज भी उसी प्रकृति का एक अंग है, इस कारण सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक या स्वाभाविक है। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो पूर्णतया स्थिर हो या जिसमें परिवर्तन होता ही न हो। मानव-समाज का विकास परिवर्तन पर ही निर्भर करता है। परिवर्तन समाज की मांग है। अतः देश, काल और वातावरण के अनुरूप सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक

आदि सभी क्षेत्रों में, कुछ-न-कुछ बदलाव होता ही रहता है, कभी अनायास और कभी सप्रयास।

सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से भक्ति-आन्दोलन एक सप्रयास परिवर्तन था, जो जनसाधारण के लिए वरदान सिद्ध हुआ। सन्त विवेक दास आचार्य का मानना है कि “मध्यकाल का भक्ति आंदोलन सामाजिक परिवर्तन का सबसे बड़ा आंदोलन है।”<sup>38</sup> इसने जनसाधारण को अत्यधिक प्रभावित किया। यह आन्दोलन देश-व्यापी आन्दोलन था। इस आन्दोलन के माध्यम से सर्वप्रथम सन्त कवियों ने सामाजिक बदलाव की आकांक्षा प्रकट की जिसमें सन्त कबीर अग्रणी हैं। वे तत्कालीन समाज से अत्यधिक असन्तुष्ट थे क्योंकि यह समाज शोषण अत्याचार तथा पाखण्ड से युक्त था। इसलिए “अपने वर्तमान समाज के स्वरूप को कबीर नकारते हैं, उसे बदलना चाहते हैं, बदलने के लिए जनता को जगाते हैं। .. कबीर ऐसा समाज चाहते हैं, जिसमें जात-पाँत नहीं हो, आर्थिक समानता हो, मनुष्य का चरित्र और व्यक्तित्व कथनी-करनी के भेद एवं पाखण्ड से मुक्त हो। समाज में धर्म हो, लेकिन ऐसा जिसमें आडम्बर नहीं हो, जो आत्मा को शुद्ध रखे और उसमें ईश्वर की भूमिका शोषण, ठगी, अत्याचार करने वाले को दण्ड देने वाली हो।”<sup>39</sup> कबीर का यह विश्वास है कि ईश्वर अत्यधिक न्यायप्रिय होता है। इस संसार में कोई कितना भी अन्याय या अत्याचार करे किन्तु ईश्वर अवश्य ही न्याय करने वाला है। उसने किसी को भी किसी पर जुल्म करने का अधिकार नहीं दिया है—

जोरी कीयाँ जुलम है, माँगे न्याव खुदाइ।

खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहि खाइ।<sup>40</sup>

अतः कबीर एक आदर्श समाज की कल्पना करते हैं। इसके लिए वे सामाजिक विषमताओं, परम्परागत जड़ मान्यताओं तथा बाह्याडम्बर युक्त उपासना पद्धतियों का विरोध

कर समाज को चुनौती देते हैं—

पंडित भूले पढ़ि गुन्य वेदा, आप न पावै नानां भेदा ॥

संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनकै आशरमां ॥

गायत्री जुग चारि पढ़ाई, पूछौ जाइ कुमति किनि पाई ॥

सब में राम रहै ल्यौ सींचा, इन थैं और कहौ को नीचा ॥

X X X

कुल अभिमाँन बिचार तजि, खोजौ पद निरबाँन ॥

अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै बिदेही थान ॥<sup>41</sup>

तथा

तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बाजगर करै ए बोंधा ॥

गाफिल गरब करै अधिकाई, स्वारथ अरथि बधै ए गाई ॥

X X X

बेअकली अकलि न जानहीं, भूले फिरै ए लोइ ॥

दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थै होइ ॥<sup>42</sup>

अतः हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने-अपने मार्गों से भटक गये थे। पण्डित लोग वेदों को पढ़ने और उन पर विचार करने के बाद भी भ्रमित थे तथा इस्लाम धर्म और उसके मानने वाले लोग भी बहुत से अनुचित कर्म करते थे। इसलिए कबीर साधारण जनता को सम्बोधित करते हुए एक स्थान पर कहते हैं कि 'अरे इन दोउन राह न पाई।' अर्थात् इन दोनों द्वारा अपनाये गये अनुचित मार्ग को त्याग कर तुम अपने स्वानुभूति के बल पर उचित एवं सत्य के मार्ग का चुनाव करो। कबीर ने मूर्ति-पूजा, रोजा, नमाज़, व्रत आदि समस्त आडम्बरों का भी खुलकर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि सच्ची भक्ति का



उदय तो हिन्दू-मुसलमान, जाति-पाँति से ऊपर उठ कर ही विकसित होती है—

कहै कबीर पुकारि कै भक्ति करो तजि धर्म।<sup>43</sup>

अथवा

भक्ति करै कोई सूरमा जाति वरन कुल खोय।<sup>44</sup>

इस प्रकार अपने विद्रोहात्मक एवं उपदेशात्मक वाणी के माध्यम से कबीर अपनी मान्यताएँ प्रचारित करते रहे, जिसका प्रभाव समाज में धीरे-धीरे दिखाई पड़ रहा था। सन्त विवेकदास आचार्य कहते हैं कि—“इन संतों ने मानवता और सौहार्द की इतनी जबरदस्त भावना पैदा कर दी थी कि सत्संग की इस पाठशाला में लौकिक और पारलौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए सारे भेदभाव मिटाकर सब लोग आने लगे थे।”<sup>45</sup> इस प्रकार जहाँ मध्यकालीन समाज विभिन्न प्रकार के बाह्याडम्बरों के पाश में आबद्ध था, जाति-पाँति, छुआछूत और ऊँच-नीच की भावनाएं समाज के हर वर्ग में व्याप्त थीं, ब्राह्मण वर्ग स्वयं को ब्रह्मा का अंश मानता था तथा स्वयं को शुद्ध एवं पवित्र होने का दावा करता था, वह निम्न जातियों द्वारा छुआ हुआ पदार्थ ग्रहण नहीं करता था, वहाँ सन्त कवियों की तीखी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धीरे-धीरे लोगों ने यह स्वीकार कर लिया कि यह सब बेतुकी बातें हैं—“जाति की पवित्रता एवं शुद्धता के नाम पर अन्य लोगों से दूर रहना और मनुष्य से परहेज करना वास्तविक पवित्रता एवं विशुद्धता नहीं है। छुआछूत, खान-पान, शादी-ब्याह आदि सामाजिक बातें हैं जो समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहती हैं। ये हमारे धर्म के शाश्वत एवं मौलिक तत्व नहीं हैं। इस प्रकार धर्म जातिवाद से अलग हो गया। समाज के महत्वपूर्ण लोगों की समझ में यह बात आ गई। जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर कट्टरता समाप्त हो गई और दूसरी ओर जातियों की उत्पत्ति उनके विकास और उनके महत्व को सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा।”<sup>46</sup>

इस प्रकार निम्न जातियों ने राहत की सॉस ली। उन्हें जीने की प्रेरणा मिली। जो जातियाँ, अब तक स्वयं को हीन समझती थीं उनमें आत्म-विश्वास की भावना जागृत हुई। “तभी नीच कही जाने वाली तमाम जातियाँ अपनी जाति को स्वाभिमान से जोलाहा, चमार, नाई, पासी, धुनिया, बुनिया, मोची, कुम्हार, तेली, कलवार और कसाई आदि कहकर अपने को संबोधित करने लगे थे।”<sup>47</sup> भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप समाज में जो बदलाव दिखाई दिया। इस सन्दर्भ में नागस्वामी का कथन है कि “शैव और वैष्णव संतों द्वारा संचालित भक्ति आंदोलन के फलस्वरूप छठी और सातवीं सदियों में एक स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। शिव और विष्णु के बहुत से मंदिर बनवाये गये और क्रमशः वैदिक कर्मकाण्ड से हटकर मंदिरों में पूजा का जोर बढ़ता गया। फिर भी इन यज्ञों की लोकप्रियता बनी रही। मंदिरों से जुड़ी उपासना में साधारण जन अधिक संख्या में भाग लेते थे, यज्ञों वाला कर्मकाण्ड उच्च वर्गों तक सीमित रह गया।”<sup>48</sup> इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि समाज से पूर्णतया समाप्त तो नहीं हुआ था। किन्तु लोगों की मानसिकता में बदलाव साफ दिखाई पड़ रहा था। अब धार्मिक स्थलों पर केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार नहीं था, बल्कि जन साधारण को भी मन्दिरों में जाने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी थी।

अतः स्पष्ट है कि भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप समाज में अत्यधिक बदलाव आया। सन्त कवियों ने धर्म, वर्ण, जाति रूपी दीवार को गिराकर भेद-भाव रहित समाज रूपी महल तैयार किया। जिसका द्वार समानता के आधार पर सभी वर्गों के लिए खुला हुआ था। धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ गये और मन्दिरों से जुड़ी उपासना में साधारण जन को भी भाग लेने का अधिकार प्राप्त हुआ। जाति के नाम पर शुद्धता एवं अशुद्धता का भाव कम हुआ। साथ ही सामाजिक तथा धार्मिक बाह्याडम्बरों और साम्प्रदायिक

भावनाओं में भी कमी आयी।

### आर्थिक बदलाव

मानव समाज के स्वरूप और आर्थिक दशाओं का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। समाज की रीतियाँ और कार्यप्रणालियाँ अर्थ-व्यवस्था को सदैव ही प्रभावित करती हैं। समाज की आर्थिक व्यवस्था सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड बनती है। यह प्रभाव लगभग प्रत्येक युग तथा प्रत्येक समाज में देखने को मिलता है। जैसे— मध्ययुगीन समाज अत्यधिक कर्मकाण्डी तथा अन्धविश्वासी था, इसके पीछे मौलवी—मुल्ला तथा पण्डित का व्यवसाय जुड़ा था। अतः वे लोग सामान्य जनता को शुभ—अशुभ, देवी—देवता आदि के प्रकोप से भयभीत करते रहते थे, जिसके डर से वे अपने सभी कार्यों को धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक रीति—रिवाजों के अनुरूप ही करते थे। उनके लिए कृषि, व्यवसाय तथा जीवन के अन्य व्यवहारिक कार्य करने से पूर्व शुभ मुहूर्त का होना आवश्यक था। यद्यपि “शुभ मुहूर्त में किसी कार्य का प्रारम्भ, जीवन में सुख प्राप्ति के लिए देवी देवताओं का पूजन तथा मंत्र—तंत्र टोटका आदि द्वारा कष्टों का निवारण इत्यादि कर्मकाण्डों के पचड़े में पड़कर जन—जीवन दुर्गति में पड़ा हुआ था।”<sup>49</sup> इनकी आर्थिक दुर्गति का कारण जातिगत व्यवसाय भी था, क्योंकि भारतीय सामाजिक संरचना वर्ण—व्यवस्था पर आधारित थी। जिसने आर्थिक वातावरण को अत्यधिक प्रभावित किया क्योंकि वर्ण—व्यवस्था के अनुसार सभी जातियाँ अपने परम्परागत पेशे को ही अपना सकती थीं। शूद्र जो निम्न जाति में गिने जाते थे, उनके लिए वही व्यवसाय थे जो अत्यधिक निकृष्ट एवं सभी के लिए त्याज्य थे। उच्च जातियों द्वारा किये जाने वाले व्यवसायों में अच्छूत भाग नहीं ले सकते थे। अतः “जन्म से जाति का निश्चय होने के कारण तथा जाति का व्यवसाय पूर्व निश्चित होने के कारण कुछ जातियाँ सदैव के लिए निम्न व्यवसाय को करने तथा उसके फलस्वरूप सदैव दरिद्र रहने

के लिए विवश हो गई।<sup>50</sup> उस समय यह मान्यता थी कि जो अछूत जाति का व्यक्ति अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य कार्य को करेगा तो उसे आगामी जन्म में इससे भी निम्न योनि प्राप्त होगी। उनका भूमि पर भी कोई अधिकार नहीं था और न ही वे धन संचय कर सकते थे। शान्ति पर्व (अध्या 60 श्लोक 37) में ग्रन्थकार ने शूद्रों को धन रखने के अधिकार से ही वंचित कर उनको दीन-हीन जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया है—

न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।<sup>51</sup>

अर्थात् शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार होता है।

अतः अस्पृश्य व्यक्ति को धन का संचय कदापि नहीं करना चाहिए चाहे वह ऐसा करने में समर्थ क्यों न हो क्योंकि एक ब्राह्मण अपनी इच्छा से अपने शूद्र सेवक की सम्पत्ति को ज़ब्त कर सकता है।

अतः उच्च जाति के लोग निम्न जातियों का विभिन्न प्रकार से शोषण कर रहे थे। किन्तु निम्न जातियाँ उसे अपना भाग्य समझकर किंकर्तव्यविमूढ़ अपने कर्म में संलग्न थीं। जुलाहे कपड़ा बुनकर अपनी जीविका चला रहे थे। तो कुम्हार, धोबी, चमार, तेली आदि जातियाँ भी अपने-अपने परम्परागत व्यवसाय से जुड़ी हुई थीं। उन्हें जातिगत व्यवसाय को ही करना पड़ता था—

आवध राम सबै करम करिहूँ

सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ।।

कुंभरा है करि बासन धरिहूँ, धोबी है मल धोऊँ।

चमरा है करि बासन रंगो अघौरी, जाति-पांति कुल खोऊँ।<sup>52</sup>

इस प्रकार मध्यकालीन आर्थिक व्यवस्था शोषण के तन्तुओं से जकड़ा हुआ था, जिसमें सामान्य जनता बंध कर रह गयी थी। एक ओर मुल्ला-मौलवी तथा पुरोहित ने अपने मकड़ जाल में फंसा रखा था, तो दूसरी ओर सामन्ती व्यवस्था उन्हें उभरने नहीं दे रही थी। “कृषक, कलाकार तथा अन्य लोगों की सेवायें राजा के लिए होती थी।... उस समय राजा की आय प्रायः भूमिकर से अधिक होती थी। इसलिए कृषकों पर कर अधिक लगाया जाता था। इस काल में कृषक सदैव शोषण के शिकार रहे।”<sup>53</sup> अतः किसानों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। जिसके कारण वे लोग बड़ी कठिनाईयों से अपना जीवन यापन कर रहे थे। “अकाल हो, अथवा बहिया किसान को अपनी उपज का एक निश्चित भाग राज-कर के रूप में देना ही था।”<sup>54</sup> अतः प्राकृतिक विपदाओं का सामना भी कृषक तथा निम्न वर्ग ही करते थे। धनी वर्ग पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

इस प्रकार मध्यकालीन आर्थिक ढाँचा व्यवस्थित नहीं था। वर्ण-व्यवस्था के चलते लोगों को व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता नहीं थी, सामन्ती व्यवस्था ने किसानों तथा मजदूरों की कमर तोड़ रखी थी। बनिये को व्यापार की सुविधा प्राप्त नहीं थी तथा भूमिहीन मजदूरों को मजदूरी का अवसर भी नहीं प्राप्त हो पाता था और यदि उन्हें यह अवसर मिल भी जाता था तो इसका पूर्ण लाभ उन्हें नहीं मिलता था, बल्कि दिन-प्रतिदिन उन्हें हानि उठानी पड़ती थी। तत्कालीन व्यापार के बारे में कबीर कहते हैं कि ऐसा व्यापार किस काम का—

मोरे ऐसी बनिज से कवन काज।

घटत मूर दिन बढ़त ब्याज।।<sup>55</sup>

इसी कारणवश सभी लोग अत्यधिक दुःखी एवं असमंजस में थे कि उन्हें अब क्या करना चाहिए? इस स्थिति को बयान करते हुए तुलसी कहते हैं—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि ।  
 बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ।  
 जीविका विहीन लोग, सीधमान सोचबस,  
 कहैं, एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी!'<sup>56</sup>

समकालीन कवियों के साहित्य के माध्यम से उस युग की आर्थिक स्थिति का पता चलता है कि किस प्रकार से निम्न वर्गों, किसानों तथा मज़दूरों के लिए जीविकोपार्जन कठिन हो रहा था। उनकी दयनीय स्थिति को देखकर जहाँ तुलसी ने उनकी विवशता को दर्शाते हुए कहा है कि 'कहाँ जाई का करी' वहीं कबीर ने उसके उत्तर में सन्तोष करने का सुझाव दिया—

“गोधन गजधन, बाजिधन और रतन धन खानि ।  
 जब आवैं संतोष धन सब धन धूरि समान ॥”<sup>57</sup>

अतः मनुष्य को धन लोलुप नहीं होना चाहिए। उसे सन्तुष्टि भाव से उतने ही धन का संग्रह करना चाहिए जितने धन की उसे आवश्यकता है। कबीर कहते हैं कि—

साँई इतना दीजिये जामें कुटुंब समाय ।  
 मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय ॥<sup>58</sup>

भक्तिकालीन सन्त कवियों ने एक ओर जहाँ गरीब जनता की विवशता को देखकर धन के प्रति उदासीनता का रुख अपनाने को कहा वहीं आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए भी प्रयत्नशील दिखाई पड़े हैं। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था पर विद्रोहात्मक रूप से प्रहार किया। कबीर कहते हैं कि जाति-पाँति का भेद कैसे सम्भव है, जबकि सभी मनुष्य एक ही ईश्वर की सन्तान है—

गर्भ बास महि कुल नहिं जाती। ब्रह्म बिंद ते सब उतपाती ॥

कहु रे पंडित बामन कब क होये। बामन कहि कहि जनम मति खोये।।

जौ तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया। तौ आन बाट काहे नहीं आया।।<sup>59</sup>

अतः उत्पत्ति की दृष्टि से सभी समान हैं, फिर जातियों का विभाजन क्यों? जाति के आधार पर पेशों का बटवारा क्यों? उन्हें इसका कोई औचित्य नहीं दिखाई पड़ता। इसे वे मात्र उच्च जातियों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र मानते हैं। इसी कारण उन्होंने समाज में प्रचलित सभी मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया है। कबीर को शायद यह आभास था कि आर्थिक व्यवस्था का यह विचारपूर्वक तैयार किया गया ढाँचा तभी तक सफल रह सकता है, जब तक सामाजिक मान्यताओं से समर्थन पाता रहे। इसी कारण उन्होंने बार-बार जाति-पाँति का सख्त विरोध किया है। वे वर्तमान समाज के स्वरूप को बदलना चाहते हैं। इसके लिए वे जनसामान्य में जागृति का मन्त्र फूँकते हैं। जैसे—सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं तथा जाति के नाम पर व्यवसायिक चुनाव की पाबन्दी उच्च जातियों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र है, कर्म ही जीवन है। अतः हमें भाग्यवाद पर भरोसा नहीं करना चाहिए आदि। शनैः शनैः इसका प्रभाव समाज में दृष्टिगोचर हो रहा था। “शूद्र धीरे-धीरे छोटे उत्पादकों में रूपांतरित हो रहे थे। 7वीं सदी के पूर्वार्ध तक सभी नहीं तो अधिकांश शूद्र किसान बन चुके थे।”<sup>60</sup> इसके साथ ही लोगों में घनिष्ठता का भाव भी दिखाई देने लगा। जातीय सौमनस्य के विकास के सम्बन्ध में प्रेमशंकर लिखते हैं कि—“इस दृष्टि से भारत का मध्यकालीन ग्राम-समाज पारस्परिक निर्भरता और सहयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है। पेशे में लगे लोगों में एक भाईचारा था, वे किसी भी जाति के हों। गाँव का खुला जीवन सौमनस्य का बोध कराता है, व्यवहार-स्तर पर, जिसमें जातियों में आपसी संवाद है।”<sup>61</sup> यद्यपि साधारण पेशों में लगे लोग श्रमिक की स्थिति में ही थे, जैसे— किसान, मजदूर, कारीगर आदि। किन्तु उनमें जाति के नाम पर अधिक भेद-भाव नहीं था। इन पेशों में लगे

लोगों में भाईचारा भी था, वे किसी भी जाति के हों, उनमें संवाद कायम हो चुका था।

इस प्रकार भारतीय जनता पर भक्ति-आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से उन पर, जो शताब्दियों से सामन्तों और उनके सहयोगी पुरोहित वर्ग के अत्याचारों और अनाचारों से पीड़ित थीं, किन्तु वे अपनी पीड़ा को अपनी नियति समझ कर चुप रहती थीं। ऐसी स्थिति में सन्तों ने ऊँचे कुल में जन्म लेने के स्थान पर उच्च कर्म को महत्वपूर्ण बताया तथा 'कर्म ही जीवन है' का मन्त्र देकर भाग्यवाद का विरोध किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्ययुगीन समाज आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक अव्यवस्थित था। शक्ति एवं स्वार्थ के कारण समाज में आर्थिक असमानता बनी हुई थी। यद्यपि मानव स्वभाव से ही धन का लोभी होता है, किन्तु सामन्ती समाज में यह चरमोत्कर्ष पर था। एक राजा दूसरे राजा के राज्य को हथियाने की पूरी कोशिश करता था, पुरोहित वर्ग सामान्य जनता को कर्मकाण्डों में उलझाकर धन ऐंठने का कार्य करता था, वहीं पर ज़मींदार लोग कृषकों से धन वसूली करने में लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में सन्तों ने समानता का भाव पैदा करने का प्रयास किया, परिणामस्वरूप विभिन्न जातियाँ यहाँ तक कि शूद्र भी अपने परम्परागत पेशों के अतिरिक्त अन्य पेशों के चुनाव में एक सीमा तक स्वतन्त्र हुए, उनमें आपसी संवाद बढ़ा। संवाद की प्रक्रिया आरम्भ होने से अलग-अलग जातियों ने एक-दूसरे को जानने-समझने का प्रयत्न किया, सीखा और प्रभावित भी हुई। अतः भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप न केवल जाति बन्धन शिथिल हुए बल्कि सामान्य जनता सामन्तों के चंगुल से निकलने में भी सफल हुई।

### ग. भक्ति का उदय

“जब मनुष्य साँसारिक कार्यों से ध्यान हटाकर एकाग्रचित होकर श्रद्धा एवं प्रेम के साथ ईश्वर का स्मरण करता है, तो उसे 'भक्ति' कहते हैं और इस भक्ति को करने वाला



भक्त कहलाता है।<sup>62</sup> भक्ति की उत्पत्ति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कोशाकारों द्वारा इसके अनेक अर्थ किये गये हैं। बृहत् हिन्दी कोश में भक्ति का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—“सेवा, आराधना, ईश्वर या पूज्य व्यक्ति के प्रति आत्मानुराग, श्रद्धा।”<sup>63</sup> हरफूलसिंह आर्य के मतानुसार—“भक्ति शब्द संस्कृत भाषा के ‘भज् सेवायाम’ धातु से निकला है। भज् धातु का अर्थ है— शरण में जाना या भाग लेना। आगे चलकर यही प्रेम पूर्वक देव सेवा में सीमित हो गया है।”<sup>64</sup> भक्ति हृदय की वह भावना है जिसमें मानव पूर्ण श्रद्धा, अथाह प्रेम, अटल विश्वास के साथ किसी सात्विक केन्द्र में केन्द्रीभूत होकर उससे तादात्म्य प्राप्त करता है और आनन्दित होता है। जब मनुष्य इस आनन्द की दशा को प्राप्त कर लेता है तो मानों उसने ब्रह्म को प्राप्त कर लिया। तैत्तिरीय उपनिषद् में भृगुवल्ली की कहानी द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है अध्यात्म—तत्त्व है। “प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह ‘आध्यात्म—चेतना’ स्थायी रूप से विद्यमान रहती है। यही अध्यात्म—चेतना अपने सरलीकृत लोकरूप में भक्ति—भावना के नाम से जानी जाती है। स्पष्टतः आध्यात्म—चेतना भक्ति भावना से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध होती है। इसका मूल उद्देश्य भौतिक जगत की क्षणभंगुरता से मुक्त होकर अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन करना होता है।”<sup>65</sup> अतः भक्ति एक धार्मिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान रहती है तथा इसका सम्बन्ध उस व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं से होता है जिससे प्रेरित होकर वह भक्ति कर्म में लीन होता है और जीवन के परम लक्ष्य (मोक्ष की प्राप्ति) की ओर अग्रसर होता है।

### भक्ति का स्वरूप

भक्ति के क्षेत्र में प्रेम तत्त्व का विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम से ही हृदय में निष्कलुष पूज्य भाव पैदा होता है। प्रेम की स्थिति में सभी प्रकार की

दूरी समाप्त हो जाती है। अतः भक्त के हृदय में प्रेम का क्षेत्र जितना अधिक व्यापक और विशाल होगा उसकी भक्ति भी उतनी अधिक उदात्त एवं उच्चकोटि की होगी। अतः भगवद्विषयक प्रेम ही भक्ति है।

कठोपनिषद् में भी (2.22) साफ-साफ कहा गया है कि “परमात्मा में जिसकी भक्ति-श्रद्धा है उसी से परमात्मा प्रसन्न होते हैं” और वे जिससे प्रसन्न होते हैं वही जिज्ञासा आदि के द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। और फिर यह अत्यंत मोटी-सी बात है कि जब तक श्रद्धा और प्रेम अधिक नहीं हो जाते तब तक जानने की इच्छा (जिज्ञासा) भी नहीं जागती। इसलिए मानों वेदांत-दर्शन के प्रथम सूत्र-‘अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा’ की कमी को पूरा करने के लिए ही भक्ति-सूत्रकार ने कहा, ‘अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे’ (अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा और कुछ नहीं, ईश्वरविषयक परम अनुरक्ति ही है।)''<sup>66</sup>

इस तरह भक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने अपना अलग-अलग मत प्रकट किया है और लगभग सभी ने भक्ति के क्षेत्र में प्रेम को आवश्यक बताया है। कबीर की भक्ति तो पूर्णतया प्रेममय भक्ति है। वे अनन्य भाव से प्रेम रूप भगवान में अनुरक्त होने तथा उसके गुणों का चिन्तन करने और अपना सर्वस्व समर्पित करके उसका ध्यान करने को भक्ति कहते हैं—

‘मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।’<sup>67</sup>

कबीर की भक्ति का यह मधुरतम प्रेम तत्त्व ही प्रियतम के साक्षात्कार का द्वार खोलता है—

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उद्याड़ी पौलि।

दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि।<sup>68</sup>

कबीर ने प्रेम में अनन्यता, त्याग और तपस्या को विशेष महत्त्व दिया है—

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।

नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ।<sup>69</sup>

किन्तु यह इतना सरल भी नहीं है कि इसे सभी लोग प्राप्त कर सकें। इस प्रेम रस का पान वही कर सकता है जो अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाला हो—

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।

कबीर पीवण दुर्लभ है, माँगे सीस कलाल।<sup>70</sup>

भक्ति हृदय की उस दिव्य एवं उदात्त भावना का नाम है, जिसमें साधक जहाँ एक ओर पूर्ण, श्रद्धा प्रगाढ़ प्रेम तथा अनन्य अनुराग भाव से परम ब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला हो, वहीं दूसरी ओर ब्रह्म द्वारा विरचित इस समस्त सृष्टि के प्रति सेवा की भावना से सम्पन्न भी हो। इसी भाव से प्रेरित होकर ऋग्वेद में कहा गया है कि—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।<sup>71</sup>

ब्रह्म के चरणों में पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देने वाला वेद का भक्त परस्पर मैत्री-भाव की कामना करता है। वह कहता है कि मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखने वाले हों।

तुलसी ने 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तारिय उदगारि' तथा 'सेवा परमो धर्मा: कह कर सेवा-भाव के महत्त्व को स्पष्ट किया है। कबीर भी इसी भाव का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि भगवान् का निवास सभी में है—सेवक में भी सेव्य में भी, क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी की रची हुई है और वह कण-कण में व्याप्त है। अतः लोकसेवा से ही भगवान्

की सेवा होती है। अतः जो सेवा—भाव में विश्वास रखता है ईश्वर उसके साथ सदैव रहते हैं—

‘सो सेवग सेवा करै, तो सँगि रमैं रे मुरारि।’<sup>72</sup>

किन्तु इस सेवा की भी एक शर्त है निष्काम सेवा—भाव क्योंकि सकाम सेवा तो निर्फल है, व्यर्थ है इसके द्वारा भगवान की प्राप्ति सम्भव नहीं है—

जब लगि भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।

कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकामी निज देव।।<sup>73</sup>

सकाम भक्ति का सम्बन्ध भोग कामना से होता है। यह भक्ति विशेष प्रकार के फलों और मनोवांछाओं की पूर्ति के लिए होती है। इस प्रकार किसी विशेष अपेक्षा से सम्पादित भक्ति निकृष्ट कोटि की भक्ति होती है।

कबीर ने सन्त भक्तों का वर्णन करते हुए लिखा है—

निरबैरी निहकाँमता, साँईं सेती नेह।

विषिया सँ न्यारा रहै, संतहि का अँग एह।।<sup>74</sup>

भक्ति का सम्बन्ध धर्म साधना से है, जिसका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। पूर्ण श्रद्धा, अटल विश्वास तथा प्रगाढ़ प्रेम भक्ति के लिए आवश्यक तत्त्व हैं। अतः व्यक्ति भक्ति के इन आवश्यक गुणों को, ग्रहण कर साधना के विभिन्न मार्गों पर अग्रसर होता है और उसकी दृष्टि सदैव उस परम ब्रह्म पर ही केन्द्रित रहती है।

भक्ति—आन्दोलन के इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि इसका विकास तीन उत्थानों में हुआ:

1. प्रथम उत्थान 1500 ई० पूर्व से लेकर 500 ई० तक।
2. द्वितीय उत्थान 700 ई० से लेकर 1400 ई० तक।

3. तृतीय उत्थान 1400 ई० से लेकर 1900 ई० तक।<sup>75</sup>

भक्ति के प्रथम उत्थान के सम्बन्ध में प्रचलित है कि "दक्षिण में पांड्य राजाओं का राज्य था। उन्हीं के क्षेत्र में भक्तों ने मधुर प्रेम के भक्तिपरक गीत गाए और श्रीकृष्ण से अपना नाता जोड़ा।"<sup>76</sup> इस तरह भक्ति का उदय हुआ।

भक्ति का द्वितीय उत्थान तमिलनाडु से हुआ। द्वितीय उत्थान आलवार सन्तों से हुआ माना जाता है। कहा जाता है कि आलवार सन्तों के नाम संकीर्तन की भक्तिधारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित हुई। अतः भक्ति की शुरुआत द्रविड देश में हुई। जिसका प्रचार-प्रसार कबीर ने किया—

‘भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।

परगट करी कबीर ने, सात दीप नव खण्ड।’<sup>77</sup>

अर्थात् स्वामी रामानन्द भक्ति को दक्षिण से लाये थे और कबीर साहब ने इस भक्ति को सात द्वीपों और, नौ खण्डों में फैलाया।

इस प्रकार आलवार भक्तों के प्रयास से भक्ति को गति मिली। इन आलवार भक्तों में बारह (12) साधकों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

भक्ति का तृतीय उत्थान जन आन्दोलन के रूप दृष्टिगत हुआ जो 'जाति-पाँति पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई', पर आधारित थी। जिसके प्रवर्तक स्वामी रामानन्द जी थे। इसका सम्बन्ध तत्त्व चिन्तकों या शास्त्र चिन्तकों तक नहीं था, बल्कि इसका प्रचार जनता के आन्दोलन के रूप में हुआ। इस आन्दोलन का विकास दो शाखाओं में हुआ—सगुण शाखा और निर्गुण शाखा। सगुण शाखा पुनः दो शाखा उप शाखाओं में विभाजित हुई—रामाश्रय एवं कृष्णाश्रय। इसी प्रकार निर्गुण शाखा को भी दो उप शाखाओं में—ज्ञानाश्रय एवं प्रेमाश्रय में विभाजित किया गया। इस आन्दोलन का उद्देश्य था—समानता

के आधार पर भक्ति का प्रचार-प्रसार करना।

सामान्यतः भारतीय जीवन में भक्ति का कोई नवीन प्रादुर्भाव नहीं था। कई सौ वर्ष पूर्व वेदों की स्थापना के साथ ही भक्ति का भी उदय हो चुका था। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत्, नारद भक्ति-सूत्र आदि भक्ति-चिन्तन-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। किन्तु—“हिन्दी के कई विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति युग का आविर्भाव राजनीतिक पराजय का परिणाम है जबकि दूसरे कुछ विद्वान इसे एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक भावना का परिणाम मानते हैं। इनके लिए यह एक आन्दोलन है और महा आन्दोलन है जो भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है।”<sup>78</sup>

भक्ति-आन्दोलन की चर्चा करते हुए प्रायः देशी-विदेशी विद्वानों ने इसे एक महान् ऐतिहासिक घटना के रूप में स्मरण किया है। किन्तु इसके उद्भव के कारण पर विद्वानों में परस्पर मत भेद है। रामानुजाचार्य ने सिद्ध किया है कि “उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन ईसाईयत की देन है।”<sup>79</sup> “गुलाब राय तथा शुक्ल आदि हिन्दी इतिहासकारों ने इसे विदेशी आक्रांताओं की प्रतिक्रिया बताया है। आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं कि “अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।”<sup>80</sup> बाबू गुलाबराय का मत है कि “मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग-विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पाई गई।”<sup>81</sup> जबकि जार्ज ग्रियर्सन ने इसे बिजली की चमक के समान अचानक कौंध उठने वाला माना है। वे कहते हैं कि “बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी।”<sup>82</sup> भारतीय विद्वान भी इसकी आकरिमकता से स्तब्ध हुए हैं। किन्तु तह तक जाकर विचार करने से स्पष्ट हो जाता

है कि यह कोई चमत्कार नहीं था, जो हमारे सामने अचानक ही प्रकट हो गया। इन सभी बातों का खण्डन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि “भक्ति आन्दोलन न तो अचानक बिजली की चमक की तरह फैला और न ही वह ईसाई मत की देन था। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघ-खण्ड एकत्र हो रहे थे।”<sup>83</sup> अतः भक्ति-आन्दोलन के पीछे कोई एक कारण नहीं था। यह अनेक आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप हमारे सामने आया। जिनमें मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

1. मध्ययुग में भारत की दशा अत्यन्त दयनीय एवं विषम थी। आये दिन आक्रमण होते रहते थे जिसका भारतीय जनता के हृदय पर व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज भ्रष्टाचार, अन्धविश्वास और निराशा जनित भावनाओं का केन्द्र बन गया।
2. अति विलासिता के चलते मध्ययुगीन भारत का अधोपतन होने लगा और समाज में धार्मिक शिथिलता व्याप्त हो गयी।
3. भारतीय संस्कृति नष्ट होने लगी थी। पूजा, जो मुक्ति के लिए होती थी, वह पार्थिव इच्छाओं की पूर्ति के लिए होने लगी।
4. हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था ने समाज में ऊँच-नीच की लकीर पहले ही खींच रखी थी और अब पुरोहितों और पण्डितों के पाखण्ड, बाह्याचारों की प्रधानता आदि ने हिन्दू जनता के हृदय में घृणा पैदा कर दी। फलस्वरूप उनमें विरोध की भावना का जन्म हुआ।

किन्तु हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने इसे मुस्लिम राज्य की स्थापना की प्रतिक्रिया बताया है। शुक्ल जी के अनुसार पौरुष से हताश जाति के पास भगवान की भक्ति के सिवा दूसरा रास्ता नहीं था। गुलाब राय जी भी इसी मत का समर्थन करते हैं। उनका मानना है कि हार की मनोवृत्ति में व्यक्ति या तो भक्ति की ओर अग्रसर होता है या

भोग—विलास में पड़कर उसे भूल जाना पसन्द करता है। भक्तिकाल के लोगों ने प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति अपनायी जबकि इन इतिहासकारों द्वारा दी गयी यह टिप्पणी कहीं न कहीं अनैतिहासिक एवं संकीर्ण मालूम पड़ती है क्योंकि—

1. “जो विद्वान् भक्ति को आन्दोलन के रूप में स्वीकार करते हैं और इस आन्दोलन का प्रधान कारण इस्लामी संस्कृति की प्रतिक्रिया बतलाते हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना होगा कि जब भक्ति का आरम्भ हुआ, उस समय इस्लामी—संस्कृति इस देश में पहुँची नहीं थी।<sup>84</sup>
2. दूसरी बात यह कि “जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचारों से यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था पर हुई दक्षिण में।”<sup>85</sup>
3. यदि हम मुस्लिम राज्य की स्थापना से उत्पन्न निराशा को भक्ति का कारण मान भी लें तो क्या यह मानव की पहली निराशा थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने भक्ति—आन्दोलन किया। यह कैसे सम्भव है कि इससे पहले लोग कभी निराश ही नहीं हुए, जबकि आशा और निराशा तो जीवन के साथ ही शुरू होती है।
4. जहाँ तक भक्ति—आन्दोलन की बात है तो यह सर्वसिद्ध है कि किसी भी आन्दोलन का जन्म दमन या शोषण के कारण होता है। ए०एम०यू० के पूर्व कुलपति पदम् श्री डॉ० महमूद—उर—रहमान ने भाषण देते हुए यह स्पष्ट किया कि “हर दमन के बाद क्रान्तिकारी जन आन्दोलन का जन्म होता है।”<sup>86</sup> इसमें कोई दो राय नहीं कि आन्दोलन का बीज अधिकांशतः दमन एवं शोषण से ही अंकुरित होता है। आन्दोलन



उग्रता का प्रतीक है, यह कुछ पाने की चाहत में किए गये संघर्ष का प्रतीक है, जबकि भक्ति शान्ति का प्रतीक है। अतः भक्ति-आन्दोलन भक्ति के लिए किया गया आन्दोलन है न कि पराजित मनोवृत्ति को शान्त करने के लिए की गयी भक्ति। अतः भक्ति-आन्दोलन के उदय का कारण कहीं-न-कहीं धर्मगत एवं जातिगत कठोरता अवश्य थी। इसे स्पष्ट करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि “उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गई क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एक मात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था।”<sup>87</sup> स्पष्टतः द्विवेदी जी का कथन इस ओर इंगित करता है कि भक्ति-आन्दोलन का कारण हिन्दू धर्म में प्रचलित चतुर्वर्ण-व्यवस्था है जिसके अनुसार केवल उच्च जातियों को धार्मिक अधिकार प्राप्त थे तथा निम्न जातियों को सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा गया था। उनका मन्दिरों में जाना वर्जित था। वे वेद-मन्त्रों का उच्चारण नहीं कर सकते थे। वेद-मन्त्र उच्चारण करने के कारण ही रामचन्द्र जी द्वारा शम्बूक मुनि का वध कर दिया गया था। “वैदिक रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के द्वारा शम्बूक का वध इसलिए कराया गया, क्योंकि शूद्र जाति का होने के कारण उसे तपश्चर्या करने का अधिकार नहीं था।”<sup>88</sup> इसकी उत्पत्ति का मूल कारण जन्मना वर्ण व्यवस्था है, जो इन कार्यों के लिए उन्हें रोकती है। साथ ही उच्च जातियाँ इन्हें पशुओं से भी हीन समझती थीं। ब्राह्मण लोग इनकी परछायी से भी बचकर चलते थे कि कहीं उनकी छायामात्र से उनका धर्म भ्रष्ट न हो जाय। उनकी कोई भी त्रुटि क्षम्य नहीं थी बल्कि छोटी से छोटी ग़लती के लिए बड़ी से बड़ी सज़ा का प्रावधान था। इस प्रकार उनका हर प्रकार से शोषण एवं दमन हो रहा था।

निम्न जातियों, जिन्हें एक ओर शिक्षा और धर्म के अधिकारों से वंचित कर दिया गया था वहीं दूसरी ओर शासन-तन्त्र तथा पुरोहित तन्त्रों की भी प्रताड़ना उन्हें झेलनी पड़ती थी। धीरे-धीरे उनमें जन-जागृति आई। परिणामस्वरूप समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के कमजोर व्यक्तियों का समूह, जिसमें आत्मसम्मान, आत्ममर्यादा, आत्मप्रतिष्ठा की उत्साह भरी ललक थी, अपना दायभाग प्राप्त करने के लिए सक्रिय हो उठा और समाज को जबरदस्त चुनौती दी—

“तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद। हम कत लोहू तुम कत दूध।”<sup>89</sup>

अतः तुम ही ईश्वर के बनाये हुए ऊँचे और पवित्र कैसे हो सकते हो? जब हम सब का जन्मदाता एक ही है—

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।

एक ही खाक घडे सब भोंडे, एक ही सिरजनहारा।<sup>90</sup>

इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन के माध्यम से सन्तों ने जाति-पॉति की व्यर्थता साबित की तथा मानव-मात्र की एकता का झण्डा फहराया। उन्होंने धर्म, वर्ण, जाति को उच्चता का आधार नहीं स्वीकार किया बल्कि भक्ति-भाव और नैतिकता को उच्चता के धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इन भक्तों ने भक्ति को अत्यन्त सहज एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया तथा भक्ति का द्वार सभी वर्गों के लिए खोलने का प्रयास किया। उनकी भक्ति ‘जाति-पॉति पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई’ पर आधारित थी। इसमें न जातीयता के आधार पर शोषण सम्भव था और न असमानता के कारण घृणा के लिए कोई जगह थी।

## 2. मनुष्यकेन्द्रिकता

मनुष्यकेन्द्रिकता उस मानसिक दृष्टिकोण का सूचक है जिसके अन्तर्गत मनुष्य को पूर्ण ‘अहमियत’ प्रदान की जाती है। इसमें व्यक्ति सर्वोपरि होता है। उसकी इच्छा के बगैर

समाज द्वारा कुछ भी उस पर थोपा नहीं जा सकता। वह अपनी इच्छा और अनिच्छा व्यक्त करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होता है। यह व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक भी है, क्योंकि—“प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों और स्वार्थों को जितनी अच्छी तरह से समझ सकता है, उतना समाज कथापि नहीं। अतः तर्क की दृष्टि से सामाजिक बन्धन और परम्पराएँ, रीति और रिवाज, सामूहिक संस्थाएँ और मान्यताएँ निरंकुशता के साथ व्यक्ति पर शासन नहीं कर सकतीं।”<sup>91</sup> किन्तु जब कभी—भी किसी प्रभावशाली तत्त्वों द्वारा व्यक्ति को दबाने की कोशिश की गयी है, तो उसका विरोध भी हुआ है। इस बात का इतिहास गवाह है कि—“जब कभी इतिहास में निरंकुशता ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारों को छीनने का प्रयास किया है तो व्यक्तिवाद ने उसकी सफल सामाजिक प्रतिक्रिया की है।”<sup>92</sup> भक्ति—आन्दोलन भी एक सामाजिक प्रतिक्रिया है। मध्यकालीन समाज उच्च और निम्न दो वर्गों में विभाजित था, जिसके अन्तर्गत निम्न जातियों को उनके व्यक्तिगत अधिकारों से वंचित रखा गया था। उन्हें सामाजिक नियमों (वर्ण—व्यवस्था) के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अतः निम्न जातियों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आवाज़ उठायी और समानता के आधार पर भक्ति का नारा बुलन्द किया “जाति—पांति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।” कबीरादि सन्तो ने धार्मिक रीति—रिवाजों बाह्याडम्बरों तथा मिथ्या परम्पराओं का जोरदार खण्डन किया क्योंकि लोक, वेद कुल की मर्यादा ही गले की फाँसी बन जाती है। अतः मनुष्य को सदैव अपनी बौद्धिक शक्ति का प्रयोग करके ही सामाजिक नियमों को आविष्कृत एवं स्वीकृत करना चाहिए। संसार में मनुष्यों की गणना सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में की जाती है। “न मनुष्यात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्” अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि समाज में व्याप्त रूढ़ियों, मिथ्या परम्पराओं तथा अन्धविश्वासों का खण्डन करे तथा इन अमान्य परम्पराओं के मकड़जाल से बाहर निकलकर उस मार्ग पर

चले जिसमें व्यक्ति का कल्याण और समाज की भलाई निहित हो।

धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ईसाई धर्म में कहा गया है कि “हर एक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपनी आत्मा के सजग विश्वास से जिस किसी भी धर्म अथवा पूजा को चाहे, ग्रहण करे।”<sup>93</sup> भक्तिकालीन सन्त कवियों का भी यही उद्देश्य था। “कबीर की भक्ति हर दृष्टि से मानवकेन्द्रित साधना है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि कबीर को स्थूल कर्मकाण्ड इसलिये अस्वीकार्य था कि वह मानवकेन्द्रित नहीं है और मनुष्य को देवार्चन, मूर्तिपूजा, विधिविधान आदि का अनुचर बना देता है। कबीर के अनुसार भक्तिसाधना का उद्देश्य है, भक्त हृदय की प्रतिष्ठा और सिद्धि, मूर्तियों का प्रतिष्ठापन या विहित नियमों का पालन नहीं।”<sup>94</sup> अतः कबीर की दृष्टि में हरि का दास इन स्थूल कार्य-कलापों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है—

कहै 'कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास।।<sup>95</sup>

इस प्रकार मनुष्य की सार्थकता पर जोर देकर उसे केन्द्र में स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य मध्यकालीन सन्त कबीर ने किया। उन्होंने न तो धर्म, वर्ण, जाति को स्वीकार किया और न ही समाज में प्रचलित विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों एवं बाह्यडम्बरों को स्वीकृति प्रदान की। उन्होंने मनुष्य की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार<sup>96</sup>

अतः मनुष्य रूप में जन्म पाना दुर्लभ है इसके लिए तो देवतागण भी लालायित रहते हैं। कबीर कहते हैं कि जिन्हें मानव योनि प्राप्त हुई है वे बहुत ही भाग्यशाली हैं। अतः उन्हें इसे व्यर्थ ही नहीं गंवाना चाहिए—

मानुख तन पायौ बड़े भाग। अब बिचारि कै खेलौ फाग।।<sup>97</sup>

### क. सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति की भूमिका

“परिवर्तन” को अंग्रेजी के ‘चेन्ज’, ‘आल्टरेशन’ तथा ‘मोडिफिकेशन’ आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। परिवर्तन किसी भी वस्तु, विषय अथवा विचार में समय के अन्तराल से उत्पन्न हुई विभिन्नता को कहते हैं।<sup>98</sup> किन्तु जब परिवर्तन शब्द से पूर्व ‘सामाजिक’ शब्द जोड़ दिया जाता है तब वह ‘सामाजिक परिवर्तन’ कहलाता है।

समाज के किसी पक्ष या सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न परिवर्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए जोन्स ने लिखा है कि “सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जोकि सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तर्क्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी भाग में घटित होने वाले हेर-फेर या संशोधन के लिए प्रयोग किया जाता है।”<sup>99</sup> हम यह कहते हैं कि समाज में कुछ परिवर्तन दिखायी दे रहा है तो इसका अर्थ यह हुआ कि समाज की पूर्व स्थिति इससे भिन्न थी। अब यह बदलाव चाहे वेश-भूषा, रहन-सहन आदि किसी भी प्रकार का हो, परिवर्तन कहलायेगा। अतः परिवर्तन का सम्बन्ध साधारणतया अतीत से होता है। अतीत की व्यवस्था में अन्तर आना ही परिवर्तन है।

### परिवर्तन की आवश्यकता

साधारणतया यह कहा जाता है परिवर्तन प्रकृति का नियम है। यह सदैव चलता रहता है। जैसे—दिन और रात का होना, ऋतुओं का बदलना, मानव अवस्थाओं में परिवर्तन आदि। इसी प्रकार समाज भी परिवर्तनशील है। अतः उसमें भी कुछ न कुछ परिवर्तन होते ही रहते हैं। यदि हम अपने ही समाज की वर्तमान स्थिति पर नज़र डालें तो हमें पता चलता है कि आज यह जिस रूप में है, कुछ समय पहले यह ऐसा नहीं था। किन्तु कभी-कभी समाज में परिवर्तन लाने के लिए व्यक्तियों द्वारा प्रयत्न किया जाता है। ऐसा तब करना

पड़ता है "जब सामाजिक संरचना में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिनके कारण समाज के अनेक सदस्य ऐसा महसूस करने लगते हैं कि प्रचलित व्यवस्था उनकी सामाजिक आवश्यकताओं को उचित रूप में संतुष्ट करने में असफल हो रही है, तो वे यह सोचने लगते हैं कि उस सामाजिक व्यवस्था में थोड़ा-बहुत संशोधन अथवा पूर्ण रूप से परिवर्तन किये बिना उनका जीवन उचित संतुष्टि प्राप्त नहीं कर सकता है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति वर्तमान संरचना को बदलने के लिये सामूहिक प्रयत्न में होती है।"<sup>100</sup> अतः समाज में परिवर्तन लाने के लिए प्रायः सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ये सामूहिक प्रयत्न ही सामाजिक आन्दोलन है। अर्थात् सामाजिक आन्दोलन वर्तमान अवस्था में परिवर्तन करने की पद्धति का नाम है। उदाहरणस्वरूप प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था जिसके आधार पर समाज में उच्च जातियों को तो महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया किन्तु निम्न जातियों को उनके सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक आदि सभी प्रकार के अधिकारों से भी वंचित रखा गया। साथ ही उन्हें उच्च जातियों द्वारा विभिन्न प्रकार की प्रताड़ना भी झेलनी पड़ती थी। ऐसी स्थिति में मध्ययुग के सन्त कवियों ने इसमें परिवर्तन की आवश्यकता को महसूस किया। परिणामस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का उदय हुआ।

### व्यक्ति की भूमिका

"समाज व्यक्तियों का समूह है" इस वाक्य से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज के निर्माण में व्यक्तियों की उपस्थिति कितनी अहम् है। उसके अभाव में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। चूँकि व्यक्ति समाज की नींव का काम करता है, अतः यह स्वाभाविक है कि जैसा व्यक्ति होगा समाज का स्वरूप, सामाजिक विकास की प्रक्रिया तथा सामाजिक परिवर्तन की दिशा भी वैसी ही होगी। समाज में कब और कितना परिवर्तन होना चाहिए यह पूर्णतया व्यक्ति की बुद्धि और विवेक पर निर्भर करता है। यदि मनुष्य अपनी

बुद्धि एवं विवेक का सही प्रयोग करे तो छोटे से छोटे स्तर का मनुष्य भी बड़े से बड़ा कार्य करने में सक्षम हो सकता है। इसे ही हम व्यक्ति की भूमिका कहते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री यंग के अनुसार “व्यक्ति जो करता है, इसी को हम उसकी भूमिका कहते हैं।”<sup>101</sup> समाजशास्त्री सार्जेन्ट का मानना है कि व्यक्ति द्वारा यह भूमिका विशेष परिस्थितियों में निभाई जाती है। सार्जेन्ट के मतानुसार—“किसी भी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का एक ऐसा प्रतिमान या प्रकार है जो विशेष परिस्थिति के अनुसार उसे समूह के अन्य लोगों की माँगों व प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होता है।”<sup>102</sup> अतः विशेष परिस्थितियों में भूमिका निभाने वाले व्यक्ति को विवेकी एवं पारखी होना आवश्यक हैं। कबीर कहते हैं कि—

साधु साधु सब ही बड़े अपनी अपनी ठौर।

शब्द विवेकी पारखी ते माथे के मौर।<sup>103</sup>

“व्यक्ति महान् है तथा ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है। इसी कारण व्यक्ति अनन्त कार्यों एवं क्रियाओं का केन्द्र माना जाता है। व्यक्ति में जटिल से जटिल कार्य करने की क्षमता है तथा कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का अदम्य साहस है। किसी भी देश एवं समाज के उत्थान—पतन के मूल में व्यक्ति एवं उसके कार्य सर्वोपरि होते हैं। व्यक्ति विहीन देश एवं समाज की कल्पना करना निरर्थक एवं आधारहीन है। व्यक्ति की महत्ता उसके कार्यों एवं उसकी बुद्धि के कारण है और इसी कारण व्यक्ति, समाज एवं देश के लिए सदैव महत्वपूर्ण रहा है और रहेगा।”<sup>104</sup>

कबीर ने इसलिए विवेकी एवं पारखी व्यक्तियों को ‘माथे का मौर’ कहकर उनकी महत्ता को स्पष्ट किया है क्योंकि ये ही वे व्यक्ति हैं जो आवश्यकतानुसार समाज में परिवर्तन लाने में अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। यदि हम भक्ति—आन्दोलन के सन्दर्भ में सामाजिक परिवर्तन की बात करें तो सन्तों की अहम भूमिका का स्वतः ही स्मरण हो जाता

है। मध्यकालीन समाज जब विभिन्न प्रकार की धार्मिक जड़ मान्यताओं के पाश में आबद्ध था, उस समय सन्तों ने अपने सक्रिय भूमिका निभाते हुए एक ओर धार्मिक रूढ़ियों, जातिवाद, बाह्याचार तथा अवांछित साधानाओं को आहत किया तो दूसरी ओर शोषण मूलक सामन्ती व्यवस्था, जो विभिन्न जड़ मान्यताओं का फायदा उठा रही थी, उसे भी ध्वस्त करने का प्रयास किया। यद्यपि यह कार्य इतना सरल नहीं था क्योंकि ये मान्यताएँ धर्म से जुड़ी हुई थीं जो कि ईश्वर की इच्छा और अनिच्छा पर आधारित होता है। इस सन्दर्भ में 'शम्भुनाथ कहते हैं कि—“समाज के पुराने सामन्ती ढांचे में मनुष्य की तकदीर उसके लिए प्रकृति द्वारा—ईश्वर द्वारा निर्धारित जगह से पूरे तौर पर बंधी रहती थी तथा इससे किसी तरह का विद्रोह ईश्वरीय व्यवस्था का निषेध माना जाता था। किन्तु भक्ति आंदोलन के सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं ने लोगों को इस जड़ता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया, उन्हें एक गतिशील धार्मिक दृष्टि अपनाने के लिए घूम—घूमकर अभिप्रेरित किया और अपनी इस भूमिका के चलते उन्हें अपने समय के धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से लड़ना भी पड़ा।”<sup>105</sup> किन्तु उनकी यह लड़ाई व्यर्थ नहीं गयी। धीरे—धीरे साधारण लोगों में भक्ति के प्रचार से रूढ़िवादिता और जड़ता मिटने लगी। चूँकि समाज में परिवर्तन व्यक्ति पर निर्भर करता है। अतः यह आवश्यक है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण भी अच्छा होना चाहिए जिससे परिवर्तन की दिशा सामाजिक उन्नति की ओर ले जाने वाली साबित हो सके। क्योंकि “मनुष्य के अन्दर एक विचारों का समाज होता है, और वाह्य समाज उसी का क्रियात्मक रूप होता है।”<sup>106</sup> अर्थात् व्यक्ति का आन्तरिक दृष्टिकोण ही समाज का बाह्य रूप है। इस सम्बन्ध में कबीर का अन्तिम निष्कर्ष था कि “मनुष्य स्वयं अपना विधायक है, वह नगण्य नहीं है, दीन—हीन भी नहीं तथा मानव जीवन व्यर्थ नहीं है। किन्तु सही मानव जीवन की प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति को आचारनिष्ठ होना होगा”।<sup>107</sup> समाज स्वतः ही इससे प्रभावित



होगा। समाज में व्यक्ति की भूमिका को हम इस प्रकार समझ सकते हैं—एक उच्च विचारों वाला व्यक्ति एक आदर्श परिवार का निर्माण करता है, परिवार का प्रभाव पड़ोस पर पड़ता है। इसी क्रम में पड़ोस समूह को, समूह संस्था को तथा संस्था समाज को प्रभावित करता है। अन्ततः एक आदर्श समाज का जन्म होता है, जो एक आदर्श व्यक्ति के प्रयासों का फल होता है। सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति की इस अहम भूमिका को ध्यान में रखते हुए कबीर ने व्यक्ति का जीवन आदर्श प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

- |              |               |               |             |
|--------------|---------------|---------------|-------------|
| 1. कर्मशीलता | 2. सादा जीवन  | 3. सेवाभाव    | 4. अहिंसा   |
| 5. सत्य      | 6. अस्तेय     | 7. ब्रह्मचर्य | 8. अपरिग्रह |
| 9. सन्तोष    | 10. तपश्चर्या | 11. धीरज      | 12. क्षमा   |
| 13. सत्संग   |               |               |             |

कबीर का विश्वास था कि यदि व्यक्ति इन जीवन आदर्शों पर चले तो निःसंदेह समाज को सुधारा जा सकता है। कबीर—काव्य में उल्लिखित व्यक्तिगत सुधार का एक प्रेरणादायक उदाहरण देखिए—

कबिरा आप ठगाइए और न ठगिए कोय।

आप ठगा सुख होत है और ठगे दुख होय।<sup>108</sup>

अतः कबीर व्यक्तिगत सुधार में ही सामाजिक सुधार मानते हैं इसलिए “कबीर की दृष्टि व्यक्ति पर केन्द्रीभूत थी। उनका लक्ष्य था व्यक्ति के सुधार द्वारा कुत्सित और अधःपतित जनता में क्रांति स्थापित करके उसे उन्नत दिशा की ओर ले जाना।”<sup>109</sup> अतः एक आदर्श समाज की कल्पना तभी की जा सकती है, जब व्यक्ति अपने जीवन में आदर्श गुणों का समावेश करे क्योंकि जिस प्रकार एक उच्च विचारों तथा शुद्ध आचरण वाला व्यक्ति समाज पर अच्छा प्रभाव डालता है उसी प्रकार यदि एक व्यक्ति का आचरण शुद्ध न होगा

तो समाज उन्नतिशील नहीं बन सकेगा। कारण यह है कि उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा और तब संकीर्णता, भ्रष्टाचार, अज्ञानता, स्वार्थ आदि अशुद्ध प्रवृत्तियों का प्रभाव उस युग में ही नहीं, वरन् भविष्य में आने वाली पीढ़ी को भी खोखली कर देगा। अतः मध्यकालीन समाज जो पूर्णतः संकीर्णता, भ्रष्टाचार, अज्ञानता और स्वार्थता आदि प्रवृत्तियों में जकड़ा हुआ था, आने वाली पीढ़ी को भी खोखला न कर दे, इससे पहले समाज में परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया था, जो व्यक्ति के प्रयासों द्वारा ही सम्भव था। व्यक्ति के प्रयासों द्वारा ही परिवर्तन की शक्तियाँ प्रबल होती हैं और क्रान्ति का रूप धारण करती हैं तथा समाज में आवश्यक परिवर्तन लाती हैं। भक्ति-आन्दोलन इसी क्रान्ति का रूप है जिसका जन साधारण पर व्यापक प्रभाव पड़ा। पहली बार शूद्रों और दलितों ने अपने सन्त और महात्मा पैदा किये, अपना साहित्य अपने गीत लिखे। कबीर, रैदास आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ उठायी, कुरीतियों धार्मिक अन्धविश्वासों, बाह्याडम्बरों का विरोध किया।

इस बात का इतिहास गवाह है जब-जब व्यक्ति ने समाज में बदलाव की आवश्यकता को महसूस किया है तब-तब उन्होंने क्रान्तियाँ की हैं और वे अपने प्रयासों में सफल भी रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था, दास-प्रथा, सामन्तवाद, पूँजीवाद तथा समाजवाद आदि क्रमगत परिवर्तन की दशा को सूचित करता है। अतः विभिन्न युगों में हुए बदलाव व्यक्तियों के प्रयासों के कारण ही सम्भव हो पाया है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह अपने प्रयासों से अपने बुद्धि और विवेक से समाज का कायाकल्प करने में पूर्ण सक्षम है।

**ख. निम्न एवं पिछड़ी जातियों में प्रतिरोध चेतना का उदय**

असमानता का व्यवहार प्रतिरोध की भावना को जन्म देता है। निम्न एवं पिछड़ी

जातियों में भी प्रतिरोध की चेतना का कारण सामाजिक असमानता ही था क्योंकि भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था, जिसके अन्तर्गत समाज के सदस्यों को चार वर्णों में विभाजित किया था और प्रत्येक वर्ण के लिए कुछ नियमों और कर्तव्यों को भी निर्धारित कर दिया गया था। साथ ही प्रत्येक वर्ण से यह आशा की जाती थी कि वह उन नियमों को अपना धर्म समझकर उनका पालन करेगा।

ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः

उरु तदस्य : यद्वैश्यः पदश्यां शूद्रोऽजायतः<sup>110</sup>

पुरुषसूक्त में कहा गया है कि ईश्वर ने अपने मुख से ब्राह्मण और बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा, पैरों से शूद्र को उत्पन्न किया है। परिणामतः अंगों की उच्चता के अनुसार ही वर्णगत उच्चता का भी निर्धारण किया गया। चूँकि मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानी जाती है, अतः ब्राह्मणों का कार्य मुख से सम्बद्ध है, अर्थात् लोगों को ज्ञान और उपदेश देना है। बाहु शक्ति का द्योतक है, अतः क्षत्रियों का कार्य शक्ति के बल पर मानव जाति की रक्षा करना है। वैश्य वर्ण की उत्पत्ति जंघा से होने के कारण उन्हें व्यापार तथा वाणिज्य का कार्य करना होता है। अन्त में चूँकि पैर का कार्य पूरे शरीर को गतिशील रखते हुए उसकी सेवा करना है अतः शूद्रों का कार्य सम्पूर्ण समाज की सेवा करना है।

ऋग्वेद के समान रामायण में भी इन चारों वर्णों की उत्पत्ति ईश्वर से बतायी गयी है—

मुख तो ब्राह्मण जाताः उरसः क्षत्रियास्तथा।

उरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पदभ्यां शूद्रा।<sup>111</sup>

अतः यह स्पष्ट है कि इन चार वर्णों की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा उच्चता से निम्नता के क्रम में हुई और इस क्रम के अनुसार ही इनके कार्यों का निर्धारण भी किया गया। किन्तु

इसका उद्देश्य व्यक्ति में उच्चता या निम्नता की भावना भरना नहीं था, बल्कि समाज में सरल श्रम-विभाजन करना था तथा सभी को अपने-अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों को ध्यान में रखते हुए एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी तथा सुदृढ़ सूत्र में एक-दूसरे से सम्बद्ध रहना था। इस प्रकार पूर्व में वर्ण-व्यवस्था सरल श्रम-विभाजन की व्यवस्था थी, वर्ग-विभाजन की नहीं। व्यवसाय मनुष्य के वर्ण का निर्धारण करते थे न कि वर्ण मनुष्य के व्यवसाय का। जो व्यक्ति जिस व्यवसाय को करता था वह उस वर्ण का माना जाता था। महाभारत में एक स्थान पर यह स्पष्टतः लिखा है कि “शूद्र भी कर्म के अनुसार क्षत्रिय हो सकता है।”<sup>112</sup> तात्पर्य यह है कि महाकाव्य युग में ऐसे भी लोग विद्यमान थे जो मनुष्य के वर्ण या जाति को उसके कर्म या गुणों के आधार पर मानते थे। इसलिए सदाचारी शूद्र भी सम्मान पाते थे। “स्वयं भीष्मपितामह क्षत्रिय होने पर भी अपने प्रगाढ़ पांडित्य के कारण तत्वज्ञानी और तत्ववेत्ता ब्राह्मण के समान माने जाते थे।”<sup>113</sup> इस प्रकार पूर्व में यह व्यवस्था गुण एवं कर्म प्रधान थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता थी। ऋग्वेद की एक ऋचा के रचयिता का उल्लेख है कि—‘मैं ऋचाओं का रचयिता हूँ, मेरा पिता वैद्य है और माँ चक्की पीसती है। हम सभी विभिन्न कार्यों में लगे हैं।’<sup>114</sup>

किन्तु प्राचीन काल से चली आ रही यह व्यवस्था धीरे-धीरे विकृत हो गयी। अब केवल ब्राह्मणों की महिमा और शक्ति का बोलबाला था, क्योंकि ब्राह्मणों ने रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में उल्लिखित केवल उन बातों को स्मरण रखा जो उनकी उच्चता को प्रदर्शित करती थीं अर्थात् उन्हें अपने अधिकार याद रहे और कर्तव्यों को उन्होंने भुला दिया।

तत्पश्चात् चतुर्वर्ण-व्यवस्था में अत्यधिक जटिलता आ गयी। शूद्रों को समाज में

निम्न स्थिति प्राप्त होने के कारण उन्हें हेय दृष्टि देखा जाने लगा। उच्च जातियाँ उन्हें पशुओं से भी हीन समझती थीं। ब्राह्मण लोग उनकी परछायीं से भी बचकर चलते थे कि कहीं उनकी छायामात्र से उनका धर्म भ्रष्ट न हो जाय। अतः उन्हें नगरों से बाहर रखा जाता था। पश्चिम उत्तर-प्रदेश की भाषा में स्वामी अछूतानन्द ने अपने नाटक शम्बूक मुनि बलिदान में मनुस्मृति के बारे में अपने पात्र से कहलवाया है—

निश दिन यह मनुस्मृति हमें जला रही है,

ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।

कुत्ते व बिल्लियों से भी बना के नीचा,

हा, शोक ग्राम बाहर हमें बसा रही है।<sup>115</sup>

इस प्रकार निम्न जातियों की यन्त्रणा एवं कष्ट की एक लम्बी कहानी है। “भाग्यवाद, कर्मवाद और पुनर्जन्म की दुहाई देकर इस कर्मरत समाज को पुरोहितों ने समय-समय पर बहकाया। गरीबी तुम्हारे भाग्य में ही थी, कर्म, तुम्हारे अच्छे नहीं थे, पहले जन्म में पाप किये होंगे, फलतः नीची जातियों में जन्म लेना पड़ा—दुख भोगने के लिए—ऐसा पुरोहित वर्ग उपदेश देकर शूद्रों को धोखा देते रहे।”<sup>116</sup> इस प्रकार उनमें उच्चता और निम्नता का भाव पैदा करके एक ओर उन्हें सामाजिक प्रताड़ना पहुँचायी तो दूसरी ओर धर्म और शिक्षा आदि मानवीय अधिकारों से भी उन्हें वंचित रखा। वेद—मन्त्र उच्चारण पर उनका अधिकार नहीं था। पूजा—पाठ आदि धार्मिक कार्यों में उनकी उपस्थिति नहीं हुआ करती थी, क्योंकि उनके लिए यह अनाधिकृत था। साथ ही यह भी कहा जाता है कि “अस्पृश्यों ने यदि कानों से वेद का श्रवण किया तो उनके कान में शीशे का पिघला रस डाला जाए, यदि जीभ से उच्चारण किया तो उनकी जीभ काट देनी चाहिए, ऐसा हिन्दू धर्म में लिखा है।”<sup>117</sup> कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि शूद्रों के लिए अपने को ब्राह्मण शब्द से सम्बोधित करना

दण्डनीय अपराध था। उनकी छोटी-छोटी त्रुटियों के लिए कड़ी से कड़ी सज़ा का प्रावधान था। इस प्रकार वैदिक काल में कर्म के आधार पर निर्मित वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में अत्यधिक जटिल हो गयी। शायद इस व्यवस्था की जटिलता को देखते हुए ही पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि—“यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उनमें समतोल पैदा करना था लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और मानवीय मस्तिष्क के लिए बन्दीघर बन गई।”<sup>118</sup> इस बन्दीघर में कैद व्यक्तियों पर इस कदर अत्याचार हुए कि स्वामी विवेकानन्द जो हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ धर्म स्वीकार करते हैं, उन्हें भी इसके क्रूर आघातों की भर्त्सना करनी पड़ी। वे कहते हैं कि—“पृथ्वी पर ऐसा कोई भी धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान इतने ऊँचे स्वर से मानवता की महिमा की घोषणा करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीच जाति वालों का गला इतनी क्रूरता से घोटता हो।”<sup>119</sup>

शूद्रो एवं अनुसूचित जातियों की भाँति पिछड़ी जातियाँ भी जाति सोपान में निम्न स्थिति रखती हैं। “यद्यपि पिछड़ी जातियों को अस्पृश्य नहीं समझा जाता है और न उन पर उतने कठोर प्रतिबन्ध होते हैं, किन्तु फिर भी इनका जीवन ज़मींदारों और सवर्ण लोगों की कृपा पर ही निर्भर रहा है।<sup>120</sup> साथ ही “वे अपने यजमानों (ज़मींदारों और सवर्णों) की सेवा करते हैं और उनसे प्राप्त भोजन-वस्त्रादि पर गुजारा करते रहे हैं। इन जातियों के कष्ट और दुःख इनके अपने कर्मों या त्रुटियों के फल नहीं होते, बल्कि सामाजिक व्यवस्था उनके लिए उत्तरदायी होती है।... परम्परा से पुरुष की गुलामी से त्रस्त नारी, ढलती उम्र में जर्जर और असहाय वृद्ध स्त्री-पुरुष, सहस्रों वर्षों से पशुवत जीवन व्यतीत करने वाले मजदूर, दलित वर्ग और भूतपूर्व अस्पृश्य जातियाँ, निर्जन बनों में रुखा-सूखा खाकर पेट

पालने वाले अशिक्षित और दरिद्र आदिवासी इत्यादि भारत के असंख्य लोग जो तुलनात्मक दृष्टि से पिछड़े हुये हैं, पिछड़े वर्ग कहे जा सकते हैं।<sup>121</sup>

अपने इस पिछड़ेपन के कारण इन्हें भी शूद्रों की भाँति अनेक प्रकार के अपमान और दर्द झेलने पड़े। फलस्वरूप इस दर्द ने प्रतिरोध को जन्म दिया। एम०एस०ए० राव के अनुसार “पिछड़ी जातियों के आन्दोलन मुख्य रूप से आत्म-सम्मान प्राप्त करने के लिये हुये हैं ताकि वे बृहत् भारतीय समाज में अपना स्थान बना सकें, अपनी पृथक पहचान बना सकें। भारत में इन जातियों ने अपनी स्थिति को ऊपर उठाने के लिये दो प्रकार के आन्दोलनों को अपनाया है। या तो वे शान्ति के साथ अपने आर्थिक विकास और सामाजिक गतिशीलता का प्रयत्न करती रही हैं अथवा उन्होंने समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिए विरोध का मार्ग अपनाया है। अधिकांश पिछड़े वर्गों ने आत्मसम्मान प्राप्त करने के लिये विरोध के मार्ग का अनुसरण किया है।<sup>122</sup>

इस प्रकार हिन्दू धर्म में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था तथा विकृत सामाजिक व्यवस्था के चलते निम्न एवं पिछड़ी जातियों का जीवन अत्यन्त कष्टमय हो गया था। उन्हें सभी प्रकार के धार्मिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि अधिकारों से वंचित कर दिया गया था, तथा विभिन्न प्रकार से उनका शोषण किया जाता था, जिसके कारण उनके मन में समाज के प्रति विद्रोह की भावना जागृत हुई। सत्य तो यह है कि जहाँ भी उच्च और निम्न का भाव होता है वहीं प्रतिरोध की भावना का जन्म अनायास ही हो जाता है क्योंकि निम्न का अर्थ है नीचे अर्थात् उनसे पहले भी कई ऐसे वर्ग हैं, जो उनसे उच्च पद पर आसीन हैं वह चाहे वर्ण-जाति हो धन-दौलत हो या अन्य किसी भी प्रकार से वे उनसे ऊँचे हों। ऐसी स्थिति में प्रतिरोध चेतना का जागृत होना स्वाभाविक है।

ग. सन्त-साहित्य : एक आन्दोलन के रूप में

### ‘संत’ शब्द की व्युत्पत्ति

‘सन्त’ शब्द से साधारणतः हमारा अभिप्राय साधु, महात्मा, पवित्रात्मा, मर्मस्पर्शी, सत्यचिन्तक तथा सज्जन व्यक्ति से होता है। किन्तु किसी भी शब्द के यथार्थ अर्थ को समझने से पूर्व उसकी व्युत्पत्ति को समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि अर्थगत भिन्नता के कारण ‘सन्त’ शब्द की व्युत्पत्ति विवादस्पद है। किन्तु विद्वानों ने इसकी पर्याप्त छानबीन की है। “महाभारत में ‘संत’ शब्द का प्रयोग सदाचारी के लिए हुआ है। भागवत में ‘संत’ शब्द का प्रयोग पवित्रात्मा के अर्थ में हुआ है। भर्तृहरि ने ‘संत’ का प्रयोग परोपकारी और कालीदास ने बुद्धिमान के अर्थ में किया है। ‘धम्मपद’ में ‘संत’ शब्द को शान्त के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। संस्कृत में इसका प्रयोग अच्छा के अर्थ में होता है। रामचरितमानस—में सज्जन, साधू, सत्पुरुष एवं भक्त शब्द ‘संत’ के पर्यायवाची शब्द माने गये हैं।”<sup>123</sup> किन्तु आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार—‘संत’ शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत एक वचन में प्रयुक्त होता है। किन्तु यह मूलतः संस्कृत शब्द ‘सन्’ का बहुवचन है।”<sup>124</sup>

रामकुमार वर्मा के अनुसार “सत्य की प्रतीति एवं परमतत्त्व की खोज करने वाला व्यक्ति सामान्यतः जनमानस में ‘संत’ कहा जाता है।”<sup>125</sup>

किन्तु मध्यकालीन गुजराती भक्त कवियों ने ‘संत’ की परिभाषा इस प्रकार दी है—  
“शान्ति पमाडे तेन संत कहिए। अर्थात् जो शान्त का अनुभव करवाए वह ‘संत’ है।”<sup>126</sup>

‘सन्त’ शब्द के सन्दर्भ में हरबंशलाल शर्मा कहते हैं कि “सन्त की पहचान और भगवान की पहचान समान ही है बल्कि यों कहा जा सकता है कि भगवान की पहचान भी संत के द्वारा ही संभव है।”<sup>127</sup> सन्त कवि महात्मा कबीर सन्त को परमात्मा का ही रूप मानते हैं—



साधु मिले तो हरि मिले, अंतर रही न रेख।<sup>128</sup>

इस प्रकार 'सन्त' शब्द का अर्थ सामान्यतः सज्जन, सुजान, परोपकारी एवं शान्ति का अनुभव कराने वाला, सत्य की प्रतीति एवं परम तत्व की खोज करने वाला तथा सत्यवादी एवं सत्यचिन्तक के रूप में लिया जा सकता है।

किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'सन्त' शब्द का तात्पर्य कुछ भिन्न है। "ऐतिहासिक दृष्टि से मध्ययुगीन भारत के साधक कवि ही 'संत' के नाम से जाने गए हैं। संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि चौदहवीं शताब्दी से लेकर परवर्ती काल तक उत्तर, मध्य एवं पश्चिम भारत के विभिन्न अंचलों की प्रादेशिक भाषाओं में रचित धार्मिक कविता के रचयिता अथवा गीतों के सृष्टा ही 'संत' या 'संत कवि' के रूप में विवेचित हुए हैं।"<sup>129</sup> अतः सन्त शब्द का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि प्रायः सन्त शब्द का तात्पर्य उन निर्गुण सन्तों से है जो कबीर, रैदास और दादू आदि की परम्परा में आते हैं।

### सन्त-साहित्य

प्रत्येक धार्मिक विचारधारा इस बात का गवाह है कि युग की परिस्थितियों के अनुसार सदैव ही कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्यक हुआ है। जैसे— बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यह धर्म सहानुभूति एवं सदाचार के मूल तत्वों पर आधारित था। किन्तु "ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध धर्म 'वज्रयान' का तन्त्रवादी रूप धारण कर विकृत हो चुका था। सिद्ध-साधक और योगी तान्त्रिक उपासना द्वारा जनता पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। समाज में अन्धविश्वासों का साम्राज्य था। इन तांत्रिकों का विरोध कर सरहपा, कण्हपा, शबरपा आदि सिद्धों ने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण किया।... आगे चलकर इन्हीं सिद्धों की परम्परा में संत-साहित्य की रचना

हुई।”<sup>130</sup>

यद्यपि ‘सन्त’ साधकों का उद्देश्य किसी साहित्य विशेष की रचना करना नहीं था, बल्कि वे अपनी भावनाओं को निश्छल भाव से जन-कल्याणार्थ प्रस्तुत करते थे जिसे वर्तमान साहित्य मनीषियों ने ‘सन्त-साहित्य’ या ‘सन्त-काव्य’ की संज्ञा प्रदान की। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसका विशिष्ट स्थान एवं महत्व है। यह समय की दृष्टि से जितना दीर्घकालीन है प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से उतना ही व्यापक भी है। “इसके रचयिताओं में, यदि दक्षिण के महाराष्ट्रीय संत नामदेव का नाम लिया जाता है, तो दूसरी ओर उत्तर के गुरुनानकदेव तथा लल्लन देव की भी गणना की जाती है। इस प्रकार इसमें पश्चिम के प्राणनाथ एवं पूर्व के जयदेव की भी रचनाएं सम्मिलित हैं।... ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की कोटियों में स्पष्ट रूप से गिने जाने वाले लोगों से लेकर भट्ट, कायस्थ, जाट, कुनबी, नाई, छीपी, दर्जी, धुनिया, जुलाहा, कोइरी, कसाई, मोची, मीरासी, पठान एवं भंगी जैसी विभिन्न जातियों के सदस्यों ने भी इसके लिए अपनी-अपनी रचनाएं प्रस्तुत की हैं”<sup>131</sup> ये रचनायें साधारण जनता के स्तर के अनुसार सरल एवं सुबोध शैली में हैं। रूढ़िवादिता एवं शास्त्रीयता का आश्रय ग्रहण नहीं किया गया है।

अतः सन्त-साहित्य अपने आप में अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं विशाल साहित्य है। “वस्तुतः सन्त-साहित्य के अनिवार्य तौर पर सिद्धों नाथों की विद्रोही चेतना से जुड़ा हुआ है।... ये संत कवि प्रायः समाज के निम्न वर्ग से आये थे और उन्होंने वेदाचार एवं प्रचलित ब्राह्मण धर्म को चुनौती दी जो समाज की धार्मिक चेतना का नियमन् और नियंत्रण करता आया था।”<sup>132</sup> साधारण कुल में जन्में इन सन्तों में असाधारण शक्ति का भण्डार था। जिसके बल पर उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों पर गिन-गिनकर चोटें की।

सामान्यतः किसी भी आन्दोलन का जन्म सामाजिक विकृतियों दमन एवं शोषण की

प्रवृत्तियों तथा अत्यधिक असन्तोष की स्थिति में होता है। अतः आन्दोलन बुराई की अतिवादिता के खिलाफ मानवीय प्रतिरोध की प्रक्रिया है जिसे हम मानव का स्वाभाविक गुण भी कह सकते हैं। सन्त-साहित्य भी अपने युग की सामाजिक बुराइयों के खिलाफ सबसे बड़ी आवाज़ है। मध्ययुग में जब सन्त-मत का उदय हुआ, उस समय चारों तरफ निराशा, हताशा एवं घुटन व्याप्त थी। “समूचा युग-जीवन, सामाजिक-धार्मिक सभी क्षेत्रों में उच्चता और निम्नता के अतिवादों में पिस रहा था। ब्राह्मण-शूद्र का भेद तत्कालीन समाज की जीवन्त मान्यता बन गयी थी। पूजा-अर्चना, उपदेश आदि सब का निर्णय जाति एवं संस्कारों के आधार पर किया जाता था।”<sup>133</sup> उच्च वर्गों द्वारा निम्न वर्गों का शोषण एवं दमन आम बात थी। ऐसे समय में कबीर पीपा, रैदास आदि सन्तों ने जन्म लेकर सामाजिक, धार्मिक आदि सभी विद्रूपताओं को भस्मसात् करने वाला शंखनाद किया। जिसका स्वर मूलतः विद्रोहात्मक था।

अतः सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ सन्तों द्वारा अपनाया गया विद्रोहात्मक रूप ही ‘सन्त-आन्दोलन’ है, जो कालान्तर में व्यापक रूप धारण कर भक्ति-आन्दोलन के रूप में प्रवर्तित हुआ। सामान्यतः आन्दोलन का उद्देश्य वर्तमान अवस्था में परिवर्तन लाना होता है जो अधिकांशतः अपने अक्रामक रूप में ही दृष्टिगत होता है। “आन्दोलन वर्तमान अवस्था में परिवर्तन करने की एक पद्धति है।”<sup>134</sup> सन्त-साहित्य का आन्दोलन के रूप में परिवर्तित होने का कारण भी तत्कालीन वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना ही था जिसका मूल स्वर कुछ अंशों में विद्रोहात्मक था जो सम्भवतः स्वाभाविक है। एम0एस0ए0राव के शब्दों में “सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा जो सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन होते हैं वे चेतावनी, विरोध, संघर्ष, आक्रमण और विद्रोह पर आधारित होते हैं।”<sup>135</sup>

विद्रोह पर आधारित ये आन्दोलन अधिकांशतः परम्परा संरचना को बदलने में सफल

होते हैं। भारत में सन्तों द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन जिसने विराट देश-व्यापी जन आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था, निश्चय ही सफलता की सीढ़ी पर अग्रसर हुआ। इसके फलस्वरूप समाज में राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में महान परिवर्तन हुए।

इस आन्दोलन में सम्मिलित समस्त सन्त कवियों ने वेद मार्ग, ब्रह्मणत्व का प्रदर्शन करने वाले पुरोहितों और पण्डितों तथा सामाज में प्रचलित रूढ़िवादी परम्पराओं, ऊँच-नीच की भावना से युक्त विकृत प्रवृत्तियों के विरुद्ध खड़े होकर इस आन्दोलन को शक्ति प्रदान की। सन्त कबीर जो सन्त-साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं, “उन्होंने अपने जुलाहे के कर्म से समूची दार्शनिकता को वाणी प्रदान करते हुए उसे सकारत्व प्रदान कर दिया। सद्गुरु को अवतार मानने वाले, मूर्ति-पूजा के विरोधी, पाखण्ड तथा आडम्बर को नकारने वाले, विकृत परम्पराओं को अस्वीकार करने वाले इन सन्तों ने उच्च काव्यादर्श तथा नवीन जीवन-मूल्य सृजित किये।<sup>136</sup>

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था, जिसके चलते समाज में जाति-भेद, ऊँच-नीच आदि की घृणित एवं कुत्सित विचारधारा का बोलवाला था जिसे सामान्य जनता मानने के लिए विवश थी। निम्न जातियाँ सभी प्रकार की सामाजिक, धार्मिक आदि सभी अधिकारों से वंचित थी। “शूद्रों के लिए वेदाध्ययन मना था। यदि शूद्र जानबूझ कर वेद का पाठ स्मरण करने के लिए सुने तो स्मृतियों का आदेश था कि उसके कान में लाख और सीसा भर देना चाहिए।”<sup>137</sup> किन्तु सन्तों ने इन घृणित मान्यताओं को अस्वीकार कर ‘जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई’ के आधार पर भक्ति का मार्ग सभी के लिए खोल दिया। परिणामस्वरूप शूद्रों की जाति जो निम्न समझी जाती थी, अत्यधिक लाभान्वित हुई। यद्यपि मध्यकालीन समाज में जाति-पाँति की खाईयाँ पर्याप्त गहरी एवं चौड़ी थीं। किन्तु तत्कालीन सन्तों ने अपने अथक प्रयासों से प्रस्तुत कार्य

को सम्पन्न किया। उन्होंने जातिगत उच्चता को मिटाकर कर 'ऊँचे कुल क्या जनमियाँ जे करणी ऊँच न होइ' कहकर कर्मगत विशेषता पर बल दिया।

इन सन्तों ने समाज में व्याप्त रूढ़ियों एवं मिथ्याडम्बरों का विरोध किया जिसमें पड़कर सामान्य जनता धर्म के वास्तविक मार्ग से भ्रमित हो रही थी। इन भ्रमित जनता को चेताया जाना आवश्यक था। कबीर ने कर्मकाण्डों का गहरे विवेक बोध से प्रतिरोध किया—

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन मॉहि,  
ऐसैं घटि घटि रॉम हैं, दुनियाँ देखै नॉहिं।<sup>138</sup>

तथा

जीवत पितरन माने कोऊ मुएं सराद्ध कराहीं।  
पितर भी बपुरे कहु क्यों पावहिं कौआ कूकर खाहीं।<sup>139</sup>

जाति—पॉति, ऊँच—नीच तथा बाह्याडम्बरों के अतिरिक्त छुआछूत एवं अस्पृश्यता की अमानवीय भावना भी कोढ़ की बीमारी की भाँति समाज में भयंकर रूप से फैली हुई थी। शूद्र का जीवन अत्यधिक क्षुद्र समझा जाता था। अशुद्धता के भय से उच्च जातियाँ उनका स्पर्श नहीं करती थीं। किन्तु सन्त कबीर इन अमानवीय प्रवृत्तियों के घोर विरोधी थे। उन्होंने छुआछूत की इस विचारधारा का कडा विरोध किया। वे कहते हैं—

काहे को कीजै। पांडे छोंति विचारा।  
छोतिहीं तै उपना। सब संसारा॥  
हमारे कैसे लोहू। तुम्हारे कैसे दूध॥  
तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे। हम कैसे सूद॥  
छोति छोति करता। तुम्हहीं जाए॥  
तौ ग्रभ वास। काहें कौ आए॥

जनमत छोट। मरत पुनि छेति॥

कहै कबीर हरि की निर्मल। जोति॥<sup>140</sup>

इस प्रकार सन्तो ने समाज में फैली हुई अनेकानेक बुराईयों को मिटाने का साहसिक प्रयास किया। उन्होंने युगों-युगों से पिसती चली आ रही, जातियों में आशा का भाव पैदा किया। निराशा के युग में आशा की किरन के समान 'सन्त-काव्य' की रचना हुई जिसने कालान्तर में आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था जिसका उद्देश्य था लोकभाषा में उपदेश देना तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देकर भक्ति-साधना को सर्वसुलभ बनाना। इस साहित्य के माध्यम से सामाजिक रूढ़ियों, मिथ्याडम्बरों तथा तन्त्र-मन्त्र का विरोध किया गया। साथ ही छुआछूत एवं अस्पृश्यता जैसे अमानवीय धार्मिक नियमों का भी खुलकर विरोध हुआ।

इस प्रकार सन्तों की वाणियों का संग्रह ही 'सन्त-साहित्य' है जो मानव-कल्याण के लिए अत्यधिक सरल एवं सुबोध भाषा में रचा गया था। वे सत्य के आलोक में एक आदर्श समाज की संरचना करना चाहते थे। उन्होंने युग-युग से चली आ रही समस्त सामाजिक बुराईयों को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया जो सन्त-आन्दोलन के रूप में विश्व के चारों दिशाओं में गूँजने लगा। इस अनुगूँज को सुनकर सामान्य जन में जागृति की किरन फूट पड़ी। जो अब तक भाग्यवाद के भरोसे, अपने सभी अधिकारों से वंचित पशुवत जीवन व्यतीत कर रहे थे, सजग हो गये और धीरे-धीरे अमानवीय सामाजिक मान्यताएँ टूटकर बिखरने लगीं। इस प्रकार सन्त-आन्दोलन सामान्य जनता का सहयोग पाकर सफलता के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीरकालीन समाज सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों से एक अव्यवस्थित समाज था। इसे

सुव्यस्थित करने के लिए सर्वप्रथम जनजागृति की आवश्यकता थी। कबीरादि सन्तों ने इसके लिए एक क्रान्तिकारी अभियान की शुरुआत की, जो आगे चलकर भक्ति-आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। इस आन्दोलन का उद्देश्य था मनुष्य को केन्द्र में स्थापित करना जो सदियों से उत्पीड़न एवं उच्च जातियों के अत्याचार का शिकार था। देखते-ही-देखते इस आन्दोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया। इसमें शूद्रों, मुसलमानों एवं स्त्रियों ने बड़े पैमाने पर अपनी भागीदारी निभायी। इसी कारण इसे लोकजागरण की भी संज्ञा दी जाती है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में महान् परिवर्तन हुए। समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ जो दरिद्रता एवं उच्च जातियों द्वारा दी गयी प्रताड़ना को अपना भाग्य समझकर चुप थीं, उन्हें इस बात का एहसास हो गया कि धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उन्हें प्रताड़ित करना, निम्न एवं हेय समझकर भेद-भाव रखना एवं उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करना आदि सभी अमानवीय व्यवहार हैं। यह उच्च जातियों द्वारा उनके प्रति रचा गया षड्यन्त्र मात्र है क्योंकि सभी प्राणियों की रचना एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति से हुई है। अतः सभी समान हैं। यही वह एहसास था जिसके कारण निम्न जातियों में प्रतिरोध की चेतना का उदय हुआ। तत्पश्चात् जाति-प्रथा की जटिलताएं एवं संकीर्णताएं धीरे-धीरे समाप्त होने लगीं। भक्ति, जिस पर अब तक केवल उच्च जातियों का अधिकार था अब यह मार्ग निम्न जातियों के लिए भी खुल गया। साथ ही उन्हें व्यवसायिक चुनाव की भी स्वतन्त्रता मिली। इस प्रकार कबीरादि सन्तों ने समाज में अपनी सक्रिय भूमिका के माध्यम से सामाजिक बुराइयों को मिटाकर निम्न समझी जाने वाली जातियों को समाज में सम्मान दिलाया।

सन्दर्भ :

1. प्रभाकर क्षोत्रिय (संपा०) कबीरदासः विविध आयाम, प्रथम संस्करण-2002, पृ० 84, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता-700017
2. वही, 84
3. अरुण कुमार पाडेण्य-सन्तों एवं सूफी कवियों की सांस्कृतिक चेतना, प्रथम संस्करण-2007, पृ० 6, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स 4378/913, 105 जे एम0डी0 हाउस, मुरालीलाल स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002
4. डॉ० सावित्री शुक्ल-संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1963, पृ० 29, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
5. डा० रामशरण गौड (संपा०)-इन्द्रप्रस्थ भारती-अप्रैल-जून 2000, पृ० 162, हिन्दी एकादमी, इलाहाबाद।
6. अरुण कुमार पाडेण्य-सन्तों एवं सूफी कवियों की सांस्कृतिक चेतना, प्रथम संस्करण-2007, पृ० 6, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स 4378/913, 105 जे एम0डी0 हाउस, मुरालीलाल स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002
7. कालिका प्रसाद, राज वल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव (संपा०)-बृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् परिवर्धित संस्करण-1992, पृ० 997, ज्ञानमण्डल लिमि०, वाराणसी
8. वही, पृ० 416
9. आचार्य रामचन्द्र वर्मा (संपा०)-लोकभारती प्रमाणिक हिन्दी कोश, पृ० 294, लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद
10. डा० एम० फिरोज खान (संपा०)-नई सदी में कबीर, प्रथम संस्करण-2007, पृ० 61, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद
11. वही, पृ० 64 '
12. राजमलबोरा-भारतीय भक्ति साहित्य, संस्करण-1994, पृ० 92, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
13. डॉ० प्रदीप कुमार सक्सेना (संपा०)-नवजागरण और इतिहास चेतना, पृ० 127, 'पहल' द्वारा प्रकाशित
14. डॉ० प्रहलाद मौर्य-कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 44, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान, 101/50



- नेहरू नगर, कानपुर
15. डॉ० शिवकुमार शर्मा—हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवाँ संस्करण—1998, पृ० 104, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, दिल्ली—110006
  16. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 44—45, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान, 101/50 नेहरू नगर, कानपुर
  17. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्—2061 वि०, पृ० 18, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
  18. वही, पृ० 90
  19. नमिता सिंह—वर्तमान साहित्य, नवम्बर—2010, पृ० 69, 28—एम०आई०जी० अवन्तिका—1, रामघाट रोड, अलीगढ़—202001
  20. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, पृ० 137, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  21. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्—2061 वि०, पृ० 137, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
  22. वही, पृ० 95
  23. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 60, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान, 101/50 नेहरू नगर, कानपुर
  24. हरबंस मुखिया—मध्यकालीन भारत : नए आयाम, पहला संस्करण—1998, पहली आवृत्ति—2001, पृ० 79, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
  25. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्—2061 वि०, पृ० 225, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
  26. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, पृ० 126, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  27. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 53, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान, 101/50 नेहरू नगर, कानपुर
  28. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्—2061 वि०, पृ० 37, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

29. डा० रामशरण गौड़ (संपा०)—इन्द्रप्रस्थ भारती—अप्रैल—जून 2000, पृ० 168, हिन्दी एकादमी, इलाहाबाद ।
30. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 82, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
31. वही, पृ० 214
32. डा० रामशरण गौड़ (संपा०)—इन्द्रप्रस्थ भारती—अप्रैल—जून 2000, पृ० 173, हिन्दी एकादमी, इलाहाबाद ।
33. डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया—मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, प्रथम संस्करण 1965, पृ० 188, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
34. डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त—वैष्णव कबीरः रहस्यवाद—मानवतावाद, संस्करण—1995, पृ० 23 भाषा—साहित्य संस्थान 147 त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद
35. अली सरदार जाफरी— (संपा० और अनु०)—कबीर बानी, पृ० 151, हिन्दुस्तान बुक ट्रस्ट खेतान भवन, जे० टाटा रोड, बम्बई
36. डॉ० प्रदीप कुमार सक्सेना (संपा०)—नवजागरण और इतिहास चेतना, पृ० 161—162, 'पहल' द्वारा प्रकाशित
37. डॉ० धर्मवीर महाजन—समकालीन समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, प्रथम संस्करण— 2004, पृ० 389, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4831/24 प्रहलाद रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
38. डा० रामशरण गौड़ (संपा०)—इन्द्रप्रस्थ भारती अप्रैल—जून—2000, पृ० 162, हिन्दी साहित्य अकादमी नई दिल्ली
39. प्रभाकर क्षोत्रिय (संपा०)—कबीरदासः विविध आयाम, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 81, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता—700017
40. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 33, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
41. वही, पृ० 182
42. वही, पृ० 182
43. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, पृ० 103, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

44. वही, 102
45. डा० रामशरण गौड़ (संपा०)—इन्द्रप्रस्थ भारती अप्रैल-जून-2000, पृ० 162, हिन्दी साहित्य अकादमी नई दिल्ली
46. डॉ० भोलानाथ—आधुनिक हिन्दी साहित्य (1900-1950ई०) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1969, पृ० 296, प्रगति प्रकाशन बैतुल बिल्डिंग, आगरा
47. डा० रामशरण गौड़ (संपा०)—इन्द्रप्रस्थ भारती अप्रैल-जून-2000, पृ० 173, हिन्दी साहित्य अकादमी नई दिल्ली
48. रामविलास शर्मा—भारतीय साहित्य की भूमिका, संस्करण-1996, पृ० 127, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली
49. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 54, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान, 101/50 नेहरू नगर, कानपुर
50. डॉ० ओम प्रकाश शर्मा—समकालीन भारतीय समाज की सामाजिक गतिशीलता, संस्करण-1990, पृ० 73, ग्रंथम रामबाग रोड, कानपुर
51. साहित्याचार्य पण्डित नारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय (अनुवादक)—महाभारत (शान्ति पर्व 5/60/37), 7वाँ संस्करण, सं० 2053 वि०, पृ० 4581, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर
52. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 164, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
53. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 54, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान, 101/50 नेहरू नगर, कानपुर
54. प्रेमशंकर—भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, संस्करण-2000, पृ० 33, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
55. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, संवत् 2055 वि, पृ० 748, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्रीसद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5, कबीर चौरा, मठ, वाराणसी-221001
56. इन्द्रदेव नारायण (अनु०)—कवितावली, षोडश संस्करण, सं० 2016 वि०, पृ० 163, हनुमान पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर
57. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, पृ० 143, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
58. वही, 107

59. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 214, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
60. हरबंस मुखिया—मध्यकालीन भारत के नए आयाम, पहला संस्करण—1990, पहली आवृत्ति—2001, पृ० 77, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
61. प्रेमशंकर—भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, संस्करण—2000, पृ० 44, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
62. डॉ० एस०एल नागौरी—मध्यकालीन समाज धर्म, कला एवं वास्तुकला, प्रथम संस्करण—2005, पृ० 155, सबलाइम पब्लिकेशन्स, 18, जैन भवन, एन०बी०सी० के सामने शान्ति नगर, जयपुर
63. कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव (संपा०)—वृहत हिन्दी कोश, सप्तम परिवर्द्धित संस्करण—1992, पृ० 831, ज्ञानमण्डल लिमि० विक्रम भवन, वाराणसी—221005
64. हरफूल सिंह आर्य—मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, पृ० 217, रिसर्च पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली— 2, तथा त्रिपोलिया बाजार जयपुर
65. डॉ० प्रेमीराम मिश्रा—हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल, संस्करण—1992, पृ० 1, राजस्थान प्रकाशन, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर
66. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, तेरहवीं आवृत्ति—2006, पृ० 118, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि० 1—बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली
67. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 14, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
68. वही, पृ० 12 ,
69. वही, पृ० 14
70. वही, पृ० 13
71. श्री स्वामी गोविन्दानन्द वेदान्ताचार्या : (संपा०)—शुक्ल यजुर्वेद संहिता, भाग-2 (36/18), प्रथमावृत्ति—2000, पृ० 431, सद्गुरु गंगेश्वर, इण्टर नेशनल वेद मिशन, तुलसी निवास, 3/31 डी—रोड, चर्च गेट, बंबई
72. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 97, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
73. वही, पृ० 15
74. वही, पृ० 39 '

75. डॉ० सावित्री शुक्ल-संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1963, पृ० 25, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
76. राजमलबोरा-भारतीय भक्ति साहित्य, संस्करण-1994, पृ० 15, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
77. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)-महाबीजक, प्रथम संस्करण, संवत् 2055 वि, पृ० 995, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्रीसद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5, कबीर चौरा, मठ, वाराणसी-221001
78. डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवें संस्करण-1998, पृ० 111, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, दिल्ली-110006
79. डॉ० प्रदीप कुमार सक्सेना (संपा०)-नवजागरण और इतिहास चेतना, पृ० 159, 'पहल' द्वारा प्रकाशित
80. डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवें संस्करण-1998, पृ० 111, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, दिल्ली-110006
81. वही, पृ० 111
82. हजारीप्रसाद द्विवेदी- हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्रथम संस्करण-1940, आठवीं आवृत्ति-1969, पृ० 54, राजकमल प्रकाशन, प्रा०लिमि०, फैज बाजार, दिल्ली-110006
83. डॉ० प्रदीप कुमार सक्सेना (संपा०)-नवजागरण और इतिहास चेतना, पृ० 159, 'पहल' द्वारा प्रकाशित
84. राजमलबोरा-भारतीय भक्ति साहित्य, संस्करण-1994, पृ० 15, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
85. डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवें संस्करण-1998, पृ० 112, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, दिल्ली-110006
86. समाचार पत्र-दैनिक जागरण, 23 नवम्बर-2008, पृ० 18 अलीगढ़-202001
87. डॉ० शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवें संस्करण-1998, पृ० 112-113, अशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, दिल्ली-110006
88. पंडित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री-वर्ण, जाति और धर्म, संस्करण-1963 ई०, पृ० 155, भारती ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता
89. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वें संस्करण, सम्वत्-2061 वि०, पृ० 214,

- नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
90. वही, पृ० 82
  91. धीरेन्द्र वर्मा (संपा०)—हिन्दी साहित्य कोश, भाग—1, तृतीय संस्करण—1985, पृ० 651, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
  92. वही, पृ० 653
  93. वही, पृ० 652
  94. विलियम द्वायर—कबीर की भक्ति भावना, संस्करण—1995, पृ० 97, जयभारती प्रकाशन, लालजी मार्केट, माया प्रेस रोड, 258/365, मुठ्ठीगंज, इलाहाबाद—3
  95. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्—2061 वि०, पृ० 76, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
  96. वही, पृ० 19
  97. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, संवत् 2055 वि, पृ० 217, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्रीसद्गुरु कबीर मंदिर, सी—23/5, कबीर चौरा, मठ, वाराणसी—221001
  98. डॉ० संजीव महाजन—आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 3, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4831/24, प्रहलाद गली, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली— 110002
  99. वही, पृ० 4
  100. डॉ० ओम प्रकाश वर्मा—समकालीन भारत की सामाजिक गतिशीलता, प्रथम संस्करण—1990, पृ० 81, रामबाग, कानपुर— 208012 द्वारा प्रकाशित
  101. डॉ० संजीव महाजन—सामाजिक मनोविज्ञान, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 156, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4831/24, प्रहलाद गली, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली— 110002
  102. वही, पृ० 156
  103. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, पृ० 122, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  104. नजीर मोहम्मद (संपा०)—अभिनव भारती, सन 1983—84, पृ० 91, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग, अलीगढ़
  105. विष्णु गोस्वामी (संपा०)—भक्ति साहित्य का पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण—1984, पृ० 64, यशराज प्रकाशन 18, गोविन्द बनर्जी लेन सलकिया, हावड़ा

106. डॉ० सावित्री शुक्ल-संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1963, पृ० 93, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
107. डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी-कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, प्रथम, संस्करण-1974, पृ० 96, सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद-2
108. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)-कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, पृ० 132, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
109. डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी-कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, प्रथम, संस्करण-1974, पृ० 74, सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद-2
110. श्रीरामशर्मा आचार्य (संपा०)-यजुर्वेद (31/11) तृतीय संस्करण-1965, पृ० 481, संस्कृत संस्थान, बरेली
111. अमरेन्द्र लक्ष्मण गाडगील (संपा०)-श्रीमद् बाल्मीकि रामायणम्, प्रथम खण्ड (3/14/30) प्रथम आवृत्ति-1982, पृ० 292, अ०ल०गाडगील, श्रीराम कोश मण्डलम् (पुणे) पुण्यपत्तनम्-411030
112. बी०एन० लूनिया-प्राचीन भारतीय संस्कृति, प्रथम संस्करण-1916, पृ० 207, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशन, हॉस्पिटल रोड, आगरा
113. वही, पृ० 208
114. वही, पृ० 237
115. डॉ० धर्मवीर-कबीर के आलोचक, प्रथम संस्करण-1997, द्वितीय संस्करण-1998, पृ० 109, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
116. डॉ० नगेन्द्र (संपा०)-भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं कला, प्रकाशन वर्ष- 1972, पृ० 143, स०च०द० एण्ड कं० प्रा० लिमि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055
117. शंभूनाथ (संपा०)-सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, भाग-2, प्रथम संस्करण-2004, पृ० 883, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
118. भोलानाथ- आधुनिक हिन्दी साहित्य (1900-1950) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण-1969, पृ० 293, प्रगति प्रकाशन, वेतुल बिल्डिंग, आगरा।
119. त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी (संपा०)-साहित्य अमृत मासिक पत्रिका, अगस्त- 2008, पृ० 74, स्वत्वाधिकारी श्यामसुन्दर, आसफ़ अली रोड, नई दिल्ली
120. डॉ० ओम प्रकाश वर्मा-समकालीन भारत की सामाजिक गतिशीलता, प्रथम संस्करण-1990, पृ०

121. रामबाग, कानपुर— 208012 द्वारा प्रकाशित।
121. वही, पृ० 121
122. वही, पृ० 122
123. डा० नैपालसिंह—उत्तरी भारत के सांस्कृतिक विकास में सन्तों का योगदान (15वीं—16वीं शताब्दी), प्रथम संस्करण—1986, पृ० 66—67, तारामण्डल, 398, आवास विकास कॉलोनी, सासनी गेट, अलीगढ़—202001
124. वही, पृ० 67
125. डॉ० प्रवेश विरमानी—हिन्दी सन्त—काव्य में मधुर भावना, प्रथम संस्करण—1988, पृ० 115, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
126. प्रभाकर क्षोत्रिय (संपा०) कबीरदास—विविध आयाम, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 165, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता—700017
127. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद (15—17वीं शताब्दी), प्रथम संस्करण—1984, पृ० 1, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़
128. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, संवत् 2055 वि, पृ० 1272, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्रीसद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5, कबीर चौरा, मठ, वाराणसी—221001
129. प्रभाकर क्षोत्रिय (संपा०) कबीरदास—विविध आयाम, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 156, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता—700017
130. डॉ० कामता कमलेश (संपा०)—हिन्दी अनुशीलन, संयुक्ताक मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर, 1999—2000, पृ० 77, भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद
131. विश्वनाथ (संपा०)—नया साहित्य, अंक—1, जनवरी—1975, पृ० 4, विश्वभारती प्रेस, जी०टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली—110006
132. प्रभाकर क्षोत्रिय (संपा०) कबीरदास—विविध आयाम, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 188, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता—700017
133. डा० जगदीश गुप्त (संपा०)—हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक—शोध पत्रिका) भाग— 43, अंक—4, अक्टूबर—दिसंबर—1982, पृ० 3, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।
134. डॉ० ओम प्रकाश वर्मा—समकालीन भारत की सामाजिक गतिशीलता, प्रथम संस्करण—1990, पृ० 81, रामबाग, कानपुर— 208012 द्वारा प्रकाशित।



135. वही, पृ० 83
136. डॉ० कामता कमलेश (संपा०)—हिन्दी अनुशीलन, संयुक्ताक मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर, 1999–2000, पृ० 23, भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद
137. विनोद कुमार तनेजा (संपा०)—प्राधिकृत पत्रिका 1999–2000, पृ० 58, हिन्दी विभाग, गुरुनानक देव यूनीवर्सिटी, अमृतसर—143005 (पंजाब)
138. डा० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सम्वत्—2061 वि०, पृ० 64, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
139. वही, 221
140. आचार्य मंहन्त, गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, संवत् 2055 वि, पृ० 438, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्रीसद्गुरु कबीर मंदिर, सी—23/5, कबीर चौरा, मठ, वाराणसी—221001

# अध्याय—द्वितीय

सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार

## अध्याय : द्वितीय

### सन्त-साहित्य का वैचारिक आधार

सामान्यतः सन्त-सम्प्रदाय का आविर्भाव विक्रम की 15वीं शताब्दी से माना जाता है। इस काव्य-परम्परा ने लोक-मानस में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। यह काव्य पूर्णतया लोकोन्मुख था। सन्त कवियों ने अपने व्यापक लोकानुभवों के आलोक से सम्पूर्ण लोक को आलोकित किया। जबकि ये समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के कमजोर व्यक्ति थे, कौन जानता था कि समाज के ये कमजोर व्यक्ति ही समाज को शक्ति प्रदान करेंगे। उनमें इतनी शक्ति, सामर्थ्य और आत्मनिष्ठा थी कि समाज को उनकी पुकार सुनने के लिए विवश होना पड़ा। उन्होंने सामाजिक विसंगतियों पर निर्भीकतापूर्वक चोट की तथा अपनी क्रान्तिकारिता के बल पर लोक जीवन को सहजता से आकर्षित किया। किन्तु उनकी यह क्रान्तिकारिता अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुई थी, बल्कि उसके मूल में एक समूची परम्परा स्पन्दित रही है जिसका आधार ग्रहण कर सन्त-काव्य परम्परा अग्रसर हुई।

सन्त-काव्य परम्परा पर सरसरी दृष्टि डालने से पता चलता है कि भक्ति के विषय में सन्त जो कुछ और जिस तरह कहते हैं वह नया नहीं है, बल्कि यह भक्ति इतिहास की परम्परा प्राप्त वस्तु है। “ईसापूर्व की छठीं शताब्दी में वैचारिक ऊहापोह ने अनेक नए क्रान्तिकारी दार्शनिक मतवादों और धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया था। उनमें बहुत सारे क्षणस्थायी सिद्ध हुए। दीर्घजीवी सम्प्रदायों में से जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव चार ऐसे सम्प्रदाय हैं जिन्होंने आगे के इतिहास को रूप दिया है।”<sup>1</sup> बौद्ध धर्म शैवों के नाथपंथ में विलीन हुआ और फिर अपने विकास के अगले चरण पर शैव सम्प्रदायों ने वैष्णव प्रभावों में आकर अद्वैत भाव की वैष्णव निगुणी भक्ति को आधार रूप प्रदान किया है।

इस सम्बन्ध में रामकुमार वर्मा का मानना है कि—“नाथपंथ का विकसित रूप

संत-काव्य में पल्लवित हुआ जिसका आदि ऐतिहासिक सिद्धों के साहित्य में है। गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार में जिस हठयोग का आश्रय ग्रहण किया था, वही हठयोग संत-काव्य में साधना का प्रधान रूप हो गया। अतः सिद्ध साहित्य, नाथपंथ और संत-मत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ हैं।<sup>2</sup>

डॉ० शिवकुमार शर्मा का मानना है कि “सन्त काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म से महायान और हीनयान संप्रदायों का आविर्भाव हुआ, महायान से मन्त्रयान और मन्त्रयान से वज्रयान और इसी वज्रयान की घोर तांत्रिक प्रकृति की प्रतिक्रिया के रूप में नाथ संप्रदाय का उदय हुआ और नाथ संप्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को लेकर सन्तमत अवतरित हुआ। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ संप्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन तत्व उभरे, उन सबका समावेश संत मत में हुआ।”<sup>3</sup> दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म की जो प्रवृत्तियाँ सिद्धों से होती हुई नाथों तक पहुँची थी, उन्हीं प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर सन्त-मत का उदय हुआ।

अतः भक्ति युग में विकसित इस (सन्त-साहित्य) काव्यधारा का मूल स्रोत सिद्धों और नाथों का साहित्य है। किन्तु इस धारा पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का भी विशेष प्रभाव देखने को मिलता है।

### 1. शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन

बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार—“जीव और ब्रह्म का अभेद बताने वाले दर्शन का नाम अद्वैत वाद है।”<sup>4</sup>

अद्वैतावस्था में जीव और ब्रह्म में भिन्नता का अभाव होता है। इस संसार में आत्मा-परमात्मा से अलग होकर आयी है। किन्तु अन्तोत्तगत्वा वह ईश्वर में ही मिल जाती है। तुलसी इसे ‘ईश्वर अंश जीव अविनासी’ कहते हैं तो कबीर ने ‘पानी ही ते हिम भया’

कहकर जीव और आत्मा के एकत्वभाव को स्वीकार किया है। आत्मा और परमात्मा की इसी एकता को शंकराचार्य ने अद्वैतवाद कहा है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त महर्षि बादरायण द्वारा प्रतिपादित हुआ था। किन्तु इस के प्रधान संस्थापक आचार्य शंकर ही माने जाते हैं। उन्होंने अद्वैत वेदान्त को इतना अधिक समृद्ध किया कि उन्हें विश्वव्यापी ख्याति अर्जित हुई। “आचार्य शंकर ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या बतलाकर जीव और ब्रह्म के बीच एकता स्थापित करते हुए अपने प्रसिद्ध मत अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अद्वैतमत से प्रायः सभी वैदिक संप्रदाय प्रभावित हुए। अद्वैत सिद्धान्त का मूल मन्त्र है—‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः’—ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, जीव ब्रह्म से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, यही चार सिद्धान्त अद्वैतमत की आधारशिला है।”<sup>5</sup> आचार्य शंकर की दृष्टि में ब्रह्म सत्य एवं जगत् मिथ्या है। इसका कारण यह है कि संसार की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, जो आया है उसे एक न एक दिन जाना ही है। अतः विनाश अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन ब्रह्म को एक मात्र सत्य मानता है क्योंकि एक मात्र ब्रह्म ही है जो निराकार, निर्विकार एवं अविनाशी है। “उसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व से ब्रह्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। शंकर वेदान्त का ब्रह्म परमार्थ सत्य स्वरूप है।”<sup>6</sup> सत्य सदैव विकार (आकृति अथवा शक्ल का विकृत होना) से मुक्त एवं स्थिर रहता है जबकि मिथ्या विकार युक्त एवं अस्थिर होता है। इस दृष्टि से ईश्वर सत्य है। वह स्थिर एवं विकार मुक्त है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार—“ब्रह्म ही एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है जो जगत् के अणु-अणु में व्याप्त है जो निराकार, निर्विकार, अविनाश, अनादि चैतन्य तथा आनन्द स्वरूप है।”<sup>7</sup> जगत् मिथ्या है। मिथ्या इसलिए है क्योंकि “जागतिक पदार्थ क्षण-क्षण परिवर्तित होने के कारण विकार को प्राप्त होते हैं तथा विकार को प्राप्त

होने के कारण वे व्यभिचरित होते हैं।<sup>8</sup> इस प्रकार व्यभिचरित होने वाले अथवा अनिश्चित पदार्थ को 'सत्' नहीं माना जा सकता और जो 'सत्' नहीं है वह निश्चय ही मिथ्या है। किन्तु यह जगत माया से आच्छादित होने के कारण सत्य प्रतीत होता है और इसी सत्याभास के कारण जीवात्मा इस सांसारिक माया-मोह में उलझ जाती है और तब तक भटकती रहती है जब तक उसे सत्य का ज्ञान नहीं हो जाता। सत्य का ज्ञान होने का अर्थ है—आत्मा का परमात्मा से मिलन। "आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं, जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन द्वारा माया नष्ट हो जाती है, तब दोनों भागों का पुनः एकीकरण हो जाता है।"<sup>9</sup> अतः आत्मा और परमात्मा की एक ही सत्ता है। किन्तु माया के कारण इसमें भिन्नता दिखाई पड़ती है। इस माया से छुटकारा पाते ही आत्मा का परमात्मा से पुनः मिलन हो जाता है।

अतः शंकराचार्य ब्रह्म और जीव की अलग-अलग सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मानना है कि जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं। वे वस्तुतः अद्वैत हैं। इन दोनों में भिन्नता का कारण है माया, क्योंकि माया ब्रह्म के विशुद्ध रूप को ढक लेती है। शंकराचार्य के अद्वैत चिन्तन को स्पष्ट करते हुए रामजीलाल 'सहायक' कहते हैं कि "जीव अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों वाला होता है। बहिर्मुखी वृत्तियाँ जीव को संसारोन्मुख करती हैं और अन्तर्मुखी वृत्तियाँ उसे ईश्वरोन्मुख करती हैं। ज्ञान से माया का उच्छेद हो जाता है, जीव का अज्ञान आवरण हट जाता है तब ब्रह्म-जीव तादात्म्य हो जाता है।"<sup>10</sup> अतः जब मनुष्य की अन्तर्मुखी वृत्तियाँ जागृत होती हैं तब अज्ञानता का पर्दा हट जाता है और उसे सत्य स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। तत्पश्चात् इस मिथ्या एवं अस्थिर संसार के सम्बन्ध में जीव स्वतः ही कह उठता है कि—

का माँगूँ कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चल्या जग जाई।<sup>11</sup>

अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म सत्य एवं जगत् मिथ्या है। जीवोब्रह्मैवनापर; अर्थात् जीव ब्रह्म से किसी प्रकार भिन्न नहीं है क्योंकि जहाँ-जहाँ जीव का निवास है वहाँ-वहाँ ईश्वर भी निवास करता है। वह सर्वव्यापक है। वह जगत् के अणु-अणु में व्याप्त है—

सर्व खलु इदं ब्रह्म ।<sup>12</sup>

सन्तों के काव्य में भी ईश्वर की सर्वव्यापकता सिद्ध की गयी है। वह सभी में एक समान भाव से व्याप्त है। संसार में जितने भी स्त्री-पुरुष हैं सबमें उसी परम तत्त्व ब्रह्म के ही स्वरूप की विद्यमानता है—

एते औरत मरदा साजै ये सब रूप तुमारे ।।<sup>13</sup>

यह जो नाना भाँति का प्रपंच दृष्टिगत है सब उसी के रूप है। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक है। कबीर कहते हैं—

लोका जानि न भूलौ भाई ।

खालिक खलक खलक मैं खालिक,

सब घट रह्यौ समाई ।।<sup>14</sup>

“सन्तों ने ब्रह्म और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है वे दोनों में अन्तर न मानकर उनकी एक ही सत्ता स्वीकार करते हैं।... कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्मा का निवास है, लेकिन भ्रमवश वह इस ज्ञान से अनभिज्ञ है। किन्तु जब वह इस भ्रम को दूर कर देता है, तब वह समझ जाता है कि जीव ब्रह्म नहीं भिन्न”<sup>15</sup>

इसी अद्वैत की दृष्टि से सन्त कवि कबीर का कथन है— जो भक्ति का रहस्य जानता है उसे किसी प्रकार का आश्चर्य क्यों होना चाहिए। जैसे जल में जल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार कबीर (जुलाहा) भी इसी ब्रह्म में मिल गया है—

ज्यूँ जल में जल पैसि न निकसै, यूँ दुरि मिलै जुलाहा ।।

राम 'भगति' परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा ।।<sup>16</sup>

किन्तु जो लोग जीव और ब्रह्म को पृथक् समझते हैं उनकी स्थूल बुद्धि पर तरस खाते हुए कबीर उन्हें नरकगामी समझते हैं—

हँम तौ एक एक करि जाँनों ।

दोड़ कहै तिनही कौं दोजग, जिन नॉहिन पहिचॉनों<sup>17</sup>

अन्यत्र उन्होंने बूँद और समुद्र का दृष्टान्त देकर एक दूसरे में पूर्णतः दोनों (जीव, ब्रह्म) का एकाकार हो जाना सिद्ध किया है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।

बूँद समानी समद में, सो कत हेरी जाइ ।।<sup>18</sup>

कबीर ने अद्वैतवाद के सम्बन्ध में अपने भाव बड़ी दृढ़ता के साथ प्रकट किये हैं। “आत्मा और परमात्मा की एकता में उनका अटल विश्वास था। इन दोनों में इतना भी भेद नहीं कि हम उन्हें एक ही मूल-वस्तु के दो पक्ष कह सकें। पूर्ण ब्रह्म के दो पक्ष हो ही नहीं सकते। दोनों सर्वथा एक हैं। अद्वैतता की इसी अनुभूति के कारण वे समस्त सृष्टि में आपको देखते थे ।”<sup>19</sup> उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि—

हम सब मांहि सकल हम मांहीं,

हम थेँ और दूसरा नाही ।।<sup>20</sup>

किन्तु भेद-भाव के आभास का कारण माया है। माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा पुनः एक हो जाते हैं। यह उसी भांति है, जिस प्रकार जल में तैरते हुए कुम्भ का जल—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी ।



फूटा कुंभ जल जलहिं समानों, यह तत कथौ गियानी ।।<sup>21</sup>

अर्थात् जल में घड़ा है और घड़े में जल है। इस प्रकार बाहर और भीतर दोनों जगह पानी ही पानी है। उनमें किसी भी प्रकार कोई भिन्नता नहीं है। किन्तु वह इसलिए अलग हैं क्योंकि घड़े की पतली चादर उन दोनों को मिलने नहीं देती। किन्तु कुम्भ के फूटने पर पानी के दोनों भाग मिलकर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार माया रूपी आवरण ब्रह्म-रूप को आच्छादित किये रहता है, किन्तु इस आवरण के हटते ही आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है।

इस प्रकार सन्त-काव्य की दार्शनिक मान्यता अद्वैतवाद के अनुकूल है। आचार्य शंकर की राय में ब्रह्म और जीव एक है। उनका अन्तर यथार्थ नहीं है बल्कि अज्ञानता के कारण है। अज्ञानता का परदा हट जाने से जीव-ब्रह्म की द्वैतता समाप्त हो जाती है। “शंकर की मान्यता है कि “ऋते ज्ञानान्ना मुक्ति” अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।”<sup>22</sup> सन्त-साहित्य में भी माया की सत्ता और जीव ब्रह्म की एकता को स्वीकार किया गया है तथा इस बात का भी समर्थन किया है कि ज्ञान के प्रकट होने से माया से छुटकारा पाया जा सकता है—

संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।

भ्रम की टाटी सबै उडॉणी, माया रहै न बॉधी ।।<sup>23</sup>

किन्तु मोक्ष प्राप्ति के साधन में थोड़ी भिन्नता दिखायी पड़ती है। जहाँ शंकराचार्य ने ज्ञान के बिना मुक्ति को असम्भव माना है, वहीं कबीर ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ भक्ति के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि—

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै सूल।

कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल ।।<sup>24</sup>

## 2. सिद्धों का चिन्तन

आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के पश्चात् सिद्धों की परम्परा ने भी सन्त-साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। इस परम्परा के विकास के सम्बन्ध से डॉ० जगन्नाथ शर्मा कहते हैं कि—“शंकर एवं बौद्ध तान्त्रिकों के समानान्तर ही प्रसिद्ध सिद्धों की परम्परा सातवीं से दसवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में विकास पर थी।”<sup>25</sup> जबकि लक्ष्मण सिंह बिष्ट का मानना है कि— “अपभ्रंश साहित्य में सातवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों के आधार पर उपदेश देने वाले सिद्धों की परम्परा चली थी।”<sup>26</sup> सम्भवतः सिद्ध सम्प्रदाय का सम्बन्ध बौद्धमत के वज्रयान तत्त्व से है जो तन्त्र-मन्त्रों पर आधारित थी। अतः मन्त्रों द्वारा सिद्धि की आकांक्षा रखने वाले लोग सिद्ध कहलाये। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार—“सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जन-भाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध-साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से यह साहित्य आरम्भ होता है।”<sup>27</sup> अतः भारतीय साधना के इतिहास लगभग 7वीं से 13वीं शताब्दी तक सिद्धों की परम्परा अस्तित्व में रही। बौद्ध धर्म, जिसका उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा की प्रतिक्रिया रूप में हुआ था, धीरे-धीरे उसमें विकृतियाँ आने लगीं। इसमें शास्त्राध्ययन, पाण्डित्य तथा व्रत आदि पर अधिक बल दिया जाता था। जो जीवनोपयोगी नहीं था। फलस्वरूप सिद्ध साहित्य का जन्म हुआ।

केशनीप्रसाद चौरसिया कहते हैं कि—“बौद्धों की आचार प्रधान कठिन साधना के स्थान पर सिद्ध-साहित्य में मानव जीवन के सहज भोगमय रूप को स्वीकार किया गया। सिद्धों ने शास्त्रानुशीलन की अपेक्षा सहजानुभूति को लक्ष्य रूप में स्वीकार किया। वर्णाश्रम-व्यवस्था का तिरस्कार कर निम्न जाति की स्त्री को महामुद्रा बनाकर उसके

सहवास द्वारा 'अद्वय' की प्राप्ति सम्भव मानी। व्रत, उपवास, जप-तप, ध्यान-धारणा का तिरस्कार कर सहज-जीवन बिताने पर जोर दिया। सिद्धों का प्रमुख प्रयोजन बौद्ध धर्म के निवृत्ति मूलक कठोर आचार धर्म का निराकरण कर अपनी साधना को सहज, प्रवृत्ति मूलक और लोकोपयोगी बनाना था।<sup>28</sup> जिसके कारण उन्होंने सहज-साधना पर जोर दिया। यह सहज-साधना वह साधना है जिसमें सिद्धगण अपने शरीर के अन्दर ही महासुख की तलाश करते हैं जो वज्रयान के वाममार्ग को प्रश्रय देता है।

“प्रायः सभी वाममार्गी साधनाओं में कायासाधना को आधार माना गया है। अपने से बाहर किसी प्रकार की सिद्धि अथवा परमार्थ को ढूँढना अनावश्यक है। शरीर ही सबसे बड़ा तीर्थ है। इसी में गंगा यमुना और गंगासागर है। इसी में प्रयाग, बनारस, सूर्य और चन्द्रमा है। सभी कुछ इसी में है। बाहर भटकना व्यर्थ है।”<sup>29</sup> अतः सिद्ध-साहित्य में आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट किया गया। उनका मानना था कि परमात्मा का निवास जीवात्मा में ही है। अतः उन्होंने ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए कायासाधना को माध्यम बनाया जो हठयोग साधना के समानान्तर है। रामरतन भटनागर कहते हैं कि— “हठयोग की तरह वह भी घट (शरीर) को महत्व देती है और उसी में निर्वाण (मोक्ष) के महासुख (महासुह) के प्राप्त करने का दावा करती है।”<sup>30</sup> इस प्रकार सिद्धों ने बाह्य साधना की अपेक्षा अन्तः साधना पर बल दिया। यह अन्तः साधना बहुत कुछ हठयोग साधनाओं से मिलती-जुलती है, परन्तु इसमें संयम का उतना स्थान नहीं। वास्तव में वह वामाचार को स्वीकार करती है।

वस्तुतः इतिहास में कोई भी घटना अचानक घटित नहीं होती, उसके पीछे एक परम्परा अवश्य होती है। सन्त-साहित्य के विकास में भी कबीर आदि सन्तों ने जो भी योगदान दिया उसके पीछे शंकर का अद्वैतवाद सिद्धों, तथा नाथ योगियों का चिन्तन आदि इस परम्परा की लम्बी कड़ियाँ हैं। जहाँ सन्त-साहित्य में जीव-ब्रह्म का एकत्व भाव शंकर

के अद्वैतवाद से ग्रहण किया गया, वहीं सहज साधना सिद्धों के सहज भोगमय रूप से अंगीकार हुआ तथा नाथ योगियों के सदाचार और हठयोग का प्रभाव भी इस साहित्य में परिलक्षित हुआ है। किन्तु सन्त-साहित्य को प्रभावित करने वाले सम्प्रदायों में सिद्ध-साहित्य का प्रमुख स्थान है। इस बात को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं कि—“भाव और शिल्प की जो परम्परा संत-साहित्य में जाकर नये रूप में उभरी, उसका बीज-रूप सरहपा के काव्य में दृष्टव्य है।”<sup>31</sup> अतः वे सिद्ध-साहित्य को ही सन्त-साहित्य का आधार मानते हैं क्योंकि सिद्ध कवियों के द्वारा अपनी कविताओं में जिन प्रवृत्तियों को अपनाया गया, अधिकांशतः उन्हीं प्रवृत्तियों को सन्त-साहित्य में स्थान मिला। विभिन्न समानताओं को देखते हुए डॉ० बच्चन सिंह भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं कि—“बौद्धसिद्ध जाति-पाँति के विरोध और बाह्याडंबर की मुखालिफत का रास्ता बना चुके थे। बौद्धसिद्धों के दोहा-कोशों और चर्यागीतियों तथा कबीर की साखियों और पदों में अनेक समानताएँ मिलती हैं— जाति-पाँति का वैसा ही आक्रोशपूर्ण विरोध, बाह्याडंबर के प्रति वैसी ही कड़ी फटकारें, आत्मसाक्षात्कार की वैसी ही गर्वोक्ति।”<sup>32</sup>

अतः सिद्ध-साहित्य में जाति-पाँति को स्वीकार नहीं किया गया है और न ही बाह्याडम्बरों को प्रश्रय मिला है। सिद्ध कवियों की भाँति सन्त कवियों ने भी बाह्याडम्बरों तथा जाति-पाँति का घोर विरोध किया है। कबीर कहते हैं कि—

पाणी पवन संयोग करि, कीया है उत्तपाति॥

सुनि मैं सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जाति॥<sup>33</sup>

बाह्याडम्बरों का खण्डन करते हुए कबीर दास कहते हैं—

देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरुक मुये हज जाई।

जटा बांधि बांधि जोगी मूये, कापड़ी के दारौ पाई॥

X X X

जे नर जोग जुगति करि जाँनैं, खोजै आप सरीरा ।

तिनकूँ मुकति का संसा नाही, कहत जुलाह कबीरा ।<sup>34</sup>

इसके साथ ही सन्तों ने अन्य अनेक प्रवृत्तियाँ भी सिद्धों से ही ग्रहण की है। पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा तथा गुरु की महिमा को सन्तों ने सिद्ध-साहित्य से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। “कण्हपा बड़े स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वेद शास्त्र का ज्ञान रखनेवाले पण्डित सहज ज्ञान की उपलब्धि से उसी प्रकार दूर रहते हैं जिस प्रकार परिपक्व श्रीफल पर मँडराने वाले भौरे—

‘ आगम बेअ—पुराणें (ही) पांडिअ माण वहंति ।

पक्क—सिरीफले अलिअ जिम, वाहेरीउ भमंति ।<sup>35</sup>

सिद्ध कण्हपा की भाँति कबीर भी वेदशास्त्रों का ज्ञान रखने वाले पण्डित को ज्ञानी नहीं मानते, वे कहते हैं कि—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोइ ।<sup>36</sup>

सन्त-साहित्य से पूर्व सिद्ध-साहित्य में गुरु के महत्व को भी स्वीकार किया जा चुका था। सिद्ध सरहपा, जिनसे सिद्ध-साहित्य का आरम्भ माना जाता है। “इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया है तथा गुरु-सेवा को महत्व दिया है।”<sup>37</sup>

सिद्ध सरहपा के समान सन्त कबीर भी गुरु के महत्व को स्वीकार करते हैं। उनका भी यही मानना है कि एक सच्चे गुरु के अभाव में अपने गन्तव्य मार्ग तक पहुँचना असम्भव है—

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध

अंधा अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत ।<sup>38</sup>

सिद्धों ने सहज भोग—मार्ग को महत्व दिया है। इसके माध्यम से वे जीव को महासुख की ओर ले जाने की कामना करते हैं। सन्तों ने भी सहज शब्द का प्रयोग बार—बार किया है किन्तु यह सिद्धों के सहज मार्गों से कुछ भिन्न है। अतः यहाँ पर परस्पर असमानता दिखाई पड़ती है। असमानता यह है कि जहाँ सिद्धों ने सहज भोग—मार्ग द्वारा महासुख की कामना की है। वहीं सन्तों ने सहज योग—मार्ग द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को स्वीकार किया है। कबीर कहते हैं कि जो लोग सहज योग की सच्चाई को नहीं जानते, वे विभिन्न साधनाओं में भटकते रहते हैं—

अवधू नादैं व्यंद गगन गाज, सबद अनहद बोलै।

अंतरिगति नहीं देखैं नेड़ा, दूढ़त बन बन डोलै।<sup>39</sup>

### 3. नाथ योगियों का चिन्तन

सन्त—साहित्य की विकास परम्परा की अगली कड़ी नाथ—साहित्य है। जिस प्रकार शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा सिद्धों के चिन्तन ने सन्त—साहित्य को प्रभावित किया उसी प्रकार नाथ योगियों द्वारा अपनाये गये योग सिद्धान्तों का प्रभाव भी सन्त—साहित्य पर पड़ा। नाथ योगियों के सिद्धान्त को नाथ—सम्प्रदाय, नाथ—पन्थ, नाथ—साहित्य तथा गोरख पंथी साहित्य आदि नामों से भी जाना जाता है। “सिद्ध सम्प्रदाय की भाँति ही नाथ सम्प्रदाय भी भारतवर्ष में बहुत दिनों तक प्रचलित रहा। नेपाल, उत्तरी भारत, आसाम तथा महाराष्ट्र में इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस पंथ के मूल प्रवर्तक आदिनाथ माने जाते हैं, किन्तु नाथों की परम्परा मत्स्येन्द्रनाथ से मिलती है, इन्हीं के शिष्य गोरखनाथ थे। नाथ सम्प्रदाय को प्रकाश में लाने का श्रेय गोरखनाथ को ही है।”<sup>40</sup>

गोरखनाथ की गणना सिद्धों में भी की जाती है। बताया जाता है कि पूर्व में गोरखनाथ सिद्ध ही थे। किन्तु सिद्ध साहित्य में आयी विकृतियों के कारण गोरखनाथ ने

सिद्धों के मार्ग का विरोध किया। सिद्धों ने नारी-भोग प्रधान योग साधना को अपनाया किन्तु नाथ पन्थियों ने इसका विरोध किया और हठयोग का उपदेश दिया। हठयोग साधना युग की परिस्थितियों के अनुकूल थी क्योंकि सिद्धों ने अध्यात्म की आड़ में नारी का उपभोग करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः “जो धर्म वैदिक धर्म की कर्मकांड की उलझनों की प्रतिक्रिया में उठा था वही समाधि, जन्त्र-मन्त्र, डाकिनी-शाकिनी, भैरवी-चक्र, मद्य-मैथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा। जिस धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं किया गया था, कालांतर में उसी में बुद्ध की भगवान के रूप में पूजा होने लगी और आगे चलकर तंत्र ने इस धर्म को अपनी मूल दिशा से एकदम नई राह में मोड़ दिया। अब इसमें त्याग और संयम का स्थान भोग और सुख ने ले लिया।”<sup>41</sup> सिद्धों की इसी भोग प्रधान साधना की प्रतिक्रिया में नाथ पन्थियों की हठयोग साधना आरम्भ हुई। नाथ पन्थियों ने बौद्ध धर्म में आयी विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया, क्योंकि जो धर्म सहानुभूति और सदाचार के तत्वों पर आधारित वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ था, वही धीरे-धीरे विभिन्न प्रतिक्रियाओं से गुजरता हुआ पथ भ्रष्ट हो गया था। इसी कारण गोरखनाथ ने इसका प्रतिवाद किया और बौद्धों के इस भ्रष्टाचार के स्थान पर शुद्ध सात्त्विक जीवन, ब्रह्मचर्य, संयम आदि को प्रमुख स्थान दिया तथा हठयोग के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति पर बल दिया।

इस सम्बन्ध में डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल कहते हैं कि—“10वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म विकृत होकर ‘वज्रयान’ और ‘महायान’ की तंत्र-मंत्र की साधना में परिणत हो चुका था। सिद्धि ही इनका लक्ष्य था। इन्होंने लोक विरुद्ध आचरण को प्रश्रय दिया और धीरे-धीरे वासना और भोगलिप्सा का आग्रह इनमें बढ़ता गया। धीरे-धीरे वज्रयानी सिद्ध पतित हो गए। समाज में दुस्चारा फैलाने वाले इन सिद्धों का विरोध नाथपंथ ने किया। यह

नाथपंथ वज्रयान से ही निकला था। किन्तु इसमें सहज जीवन और आन्तरिक शुचिता का अधिक आग्रह था।... इन्होंने योग के आधार पर एकेश्वरवाद की स्थापना की। इनका योग 'हठयोग' कहलाया।<sup>42</sup>

नाथ योगियों ने समाज में व्याप्त विभिन्न पाखण्डों का खुलकर विरोध किया तथा एकेश्वरवाद पर बल दिया। उनकी साधना हठयोग साधना है जिसे उन्होंने अत्यधिक महत्वपूर्ण बताया है। इसी साधना के माध्यम से वे ब्रह्म-साक्षात्कार को स्वीकार करते हैं। उनकी योग साधना सिद्धों की भाँति भोग-प्रधान न होकर अत्यधिक शिष्ट और संयत है। "सिद्धों ने योग की दशा को युगनद्ध (स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा) का प्रतीक दिया है।"<sup>43</sup> जबकि नाथ-पन्थ का प्रमुख माध्यम सन्यास था। इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय निग्रह पर विशेष बल दिया गया है। इन्द्रियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है। अतः नारी से दूर रहने की शिक्षा दी गयी है। मनः साधना के माध्यम से मन को संसार से खींचकर अन्तःकरण की ओर उन्मुख करने की क्रिया का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार "गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को जिस आंदोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ है। उसमें जहां एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गयी वहीं दूसरी ओर विकृत करनेवाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर भी आघात किया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरख ने किया।"<sup>44</sup>

नाथ-पन्थ में उच्च वर्णों तथा वैदिक सिद्धान्तों की कटु आलोचना हुई। नाथपन्थी वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानते थे, उन्होंने वैदिक धर्म की परम्परागत व्यवस्था का तिरस्कार किया तथा उस युग में प्रचलित अन्धविश्वासों व रूढ़ियों को रोकने का भरसक प्रयास



किया। नाथ-सम्प्रदाय में अधिकांशतः अशिक्षित और निम्न कहे जाने वाले वर्ण के लोग ही थे, क्योंकि इसमें न तो जाति-वर्ण के नाम पर कोई भेद-भाव था और न ही जप, तप वेद आदि पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ही कोई स्थान था। यह भावना उन पण्डितों के लिए एक चुनौती थी, उन पर एक अंकुश था, जो निरंकुश और पाण्डित्य प्रभाव के कारण साधारण जनता पर बौद्धिक अत्याचार कर रहे थे। इन्होंने ईश्वर को अपने हृदय में ही खोजने का उपदेश दिया है। इनकी ईश्वर सम्बन्धी भावना शून्यवाद में है। शून्यवाद को समझने के लिए सर्वप्रथम कुण्डलिनी को समझना आवश्यक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि—“इस कुण्डलिनी को ठीक-ठीक समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना करनी चाहिए। पीठ में स्थित मेरुदण्ड सीधे जहाँ जाकर पायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहीं स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्नि-चक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटकर सर्प भी भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है, जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभि के पास एक स्वाधिष्ठान-चक्र है जो छः दलों के कमल के आकार का है। इस चक्र के ऊपर मणिपूर-चक्र है और उसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत-चक्र है। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पदम् के आकार के हैं। इसके ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य-चक्र है जो सोलह दल के कमल के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं।... इन चक्रों को भेद करने के बाद मस्तक में शून्य-चक्र है जहाँ पहुँचना हठयोगी का चरम लक्ष्य है।”<sup>45</sup>

नाथ-पन्थ के इस शून्यवाद का प्रभाव सन्त-साहित्य पर भी पड़ा है। “नाथ पंथ की ईश्वर संबंधी भावना शून्यवाद में है और यह वज्रयान से ली गई है। कबीर ने इसी शून्य को सहज, सुन्न, सहस्रदल कमल आदि नामों से पुकारा है।”<sup>46</sup> कबीर कहते हैं कि—

अवधू मेरा मन मतिवारा,  
 उन्मनि चढ़या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा ॥  
 गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुवा भव भाठी करि भारा ॥  
 सुषमन नारी सहजि समानी, पीयै पीवनहारा ॥

X X X

सुनि मंडल मैं मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै ॥  
 गुरु प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनाँ काछै ॥<sup>47</sup>

इस प्रकार शून्य मण्डल में अमृत का पान करने जैसी बातें नाथपन्थियों की भाँति कबीर की वाणियों में भी मिलता है। अतः वे भी योगी थे। किन्तु हठयोगी कदापि नहीं थे। उन्होंने नाथ-पन्थ का अनुसरण तो किया है। किन्तु हठयोग का पालन नहीं किया बल्कि ऐसे योगियों की आलोचना की है जो योगी होने का ढोंग मात्र करते हैं। कबीर उन्हीं योगियों को योगी कहते हैं जो माला, तिलक आदि बाह्याडम्बरों से दूर मन से योग साधना में विलीन रहते हैं—

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा, रात दिवस न करई निद्रा ॥

मन मैं आँसण मन मैं रहणौ, मन का जप तप मन सँ कहणौ ॥<sup>48</sup>

#### 4. दर्शन, अध्यात्म और भक्ति

##### दर्शन

“दर्शन वह शास्त्र है जिसमें आत्मा, अनात्मा, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जगत, धर्म, मोक्ष तथा मानव-जीवन के विभिन्न उद्देश्य का निरूपण होता है।”<sup>49</sup> इन्हें निरूपित करने के लिए वस्तुओं का गहन चिन्तन करना आवश्यक है जो दर्शन के माध्यम से सम्पन्न होता है। विचारक पैट्रिक के मतानुसार “दर्शन वस्तुओं के सम्यक् विचारणीकरण की कला है।”<sup>50</sup> इस विचारणीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ दृश्यमान जगत से होता है। चूँकि मनुष्य

अति जिज्ञासु प्राणी है। अतः “वह विशाल दृश्य जगत में फैले विविध रूप को देखते-देखते उसके भीतर प्रवेश करने लगता है। चिन्तन, मनन की साधना से उसमें निहित रहस्य को समझने लगता है। तब उसे इन दो आंखों के अलावा अनेक ज्ञान चक्षु मिल जाते हैं। यह ज्ञान चक्षु मनुष्य की दिव्य दृष्टि है जिसे पाकर यह समस्त ब्रह्माण्ड में सम्यक् सत्य का दर्शन करता है।”<sup>51</sup>

अतः दर्शन का शाब्दिक अर्थ है देखना। किन्तु किसी भी वस्तु को देखकर मनुष्य कदापि शान्त नहीं रह सकता क्योंकि उसका जिज्ञासु मन अति चंचल होता है और मस्तिष्क चिन्तनशील। अतएव विश्व की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उसके सम्बन्ध में चिन्तनमनन करना उसका स्वाभाविक गुण है। कभी-कभी तो वह किसी वस्तु को देखकर अनायास ही सोचना आरम्भ कर देता है। उसे इस बात का आभास भी नहीं होता है कि वह वास्तव में इसके बारे में सोचना चाहता हैं या नहीं। इस प्रकार देखा जाय तो वह हर क्षण अपनी चिन्तन शक्ति का उपयोग करता है। अतः देखने और सोचने की क्रिया को मानव जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता।

“भारत सदा से बौद्धिक चिन्तना के क्षेत्र में विश्व का अग्रणी रहा है। नैतिक मूल्यों पर आज भी भारत जितना बल देता है, उतना बल विश्व के किसी देश ने देने का साहस नहीं किया है। इसका एकमात्र कारण है कि आज से हजारों वर्ष पहले वेदों ने ‘वैदिक युग’ का सूत्रपात किया था, उसी समय से भारत की पुण्य-भूमि ने तपस्वियों को आंचल में पाल पोसकर एक नये रूप में संसार के कण-कण में व्याप्त अनेकानेक रहस्यों से परिचित होने के लिए उकसाया था। भारत की शस्य-श्यामला भूमि, धन-धान्य से परिपूर्ण थी, जिसने करोड़ों निवासियों की क्षुधा का निवारण स्वयं कर दिया था। यही कारण था कि भारत में जन्म लेने वाले मानव ने अपनी शक्तियों को भूख-प्यास की ज्वाला के निवारणार्थ न

लगाकर बौद्धिक चिन्तन के क्षेत्र में व्यय करने लगा, जिसके फलस्वरूप भारत ने विश्व को एक नया जीवन दर्शन दिया।<sup>52</sup>

भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता व्यवहारिकता रही है जिसका आरम्भ आध्यात्मिक असन्तोष से होता है। मानव जब इस धरती पर आया और अपनी आँख खोली तो उसने स्वयं को विभिन्न प्रकार के दुखों एवं समस्याओं के आवरण से घिरा हुआ पाया और वह इससे बाहर निकलने की कामना करने लगा। फलस्वरूप जीवन की इन्हीं अनसुलझी समस्याओं, अनजाने प्रश्नों एवं दुखों के निवारण के लिए दर्शन का सृजन हुआ। ये कुछ ऐसी रहस्यमय समस्याएँ एवं प्रश्न हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहता है। जैसे “विश्व का स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार और क्यों हुई? विश्व का कोई प्रयोजन है अथवा यह प्रयोजनहीन है? आत्मा क्या है? जीव क्या है? ईश्वर है अथवा नहीं? ईश्वर का स्वरूप क्या है? ईश्वर के अस्तित्व का क्या प्रमाण है? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? सत्ता का स्वरूप क्या है? ज्ञान का साधन क्या है? सत्य ज्ञान का स्वरूप और सीमाएँ क्या है? शुभ और अशुभ क्या है? उचित और अनुचित क्या है? नैतिक निर्णय का विषय क्या है? व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है? इत्यादि।<sup>53</sup>

### अध्यात्म

दर्शन और अध्यात्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि दर्शन को ही आध्यात्मिक ज्ञान स्वीकार करते हुए डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि “दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा-रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता है। यह आत्मदृष्टि, जो वहीं संभव है, जहाँ दर्शन शास्त्र का अस्तित्व है, एक सच्चे दार्शनिक की पहचान है।<sup>54</sup> इस प्रकार दर्शन मात्र जीवन के निगूढ़ प्रश्नों के उत्तर ही नहीं खोजता अपितु धर्म तथा धर्म के मूलभूत तत्व अर्थात् अध्यात्म को भी प्रकाशवान बनाने में सहायता

प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन से ही आध्यात्मिक ज्ञान सम्भव है।

डॉ० मंजू के मतानुसार “भारतीय दर्शन आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जाता है। वह बौद्धिक विचार मात्र नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है। जब मनुष्य (रूपात्मा) को यह अनुभव होने लगता है कि यह जीवन दुःखमय है, तब इस दुःखमय जीवन से मुक्ति पाने के लिए वह मोक्ष की आकांक्षा करता है।”<sup>55</sup> इस आकांक्षा की पूर्ति आत्मा और परमात्मा के मिलन द्वारा सम्भव है जिसे अध्यात्म कहते हैं। अतएव आत्मा और परमात्मा के मिलन से ही अध्यात्म का जन्म हुआ है। अतः अध्यात्म के अन्तर्गत मात्र ब्रह्म-ज्ञान नहीं आता बल्कि आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचार अध्यात्म कहलाता है। अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति की अवस्था में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता समाप्त हो जाती है। अतः जीवात्मा एवं परमात्मा भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। कबीर ने आत्मा-परमात्मा की घनिष्ठता को इस प्रकार व्यक्त किया है—

ना इहु मानुष न इहु देव। ना इहु जती कहावै सेव॥

X X X

कहु कबीर इहु राम का अंसु, जस कागद पर मिटै न मंसु।<sup>56</sup>

अर्थात् आत्मा को न मनुष्य कहा जा सकता है और न देवता ही। वह सभी नाम रूपों से भिन्न है। यह ब्रह्म का अंश है। जिस प्रकार पक्की स्याही का कागज पर पड़ा धब्बा नहीं मिट पाता उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक हैं, भेद रहित हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है कि—“अयमात्मा ब्रह्म” अर्थात् यही आत्मा ही ब्रह्म है। दोनों में अन्तर नहीं है। किन्तु इनमें जो भिन्नता दृष्टिगत होती है। वह मात्र भ्रम है जो अज्ञानता के कारण पैदा होता है। किन्तु जब यह अज्ञानता रूपी अन्धकार

मिट जाता है तब ज्ञान रूपी प्रकाश का उदय होता है और इस प्रकाश का उदय होता है और इस प्रकाश में आत्मा-परमात्मा की भिन्नता का भाव दृष्टिगत नहीं होता। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ज्ञान का आधार आत्मा, मन, चेतना अथवा चित्त है। आत्मा मूलतः दार्शनिक शब्द है जो दर्शन से लोक व्यवहार में प्रयुक्त हुआ। 'वेदान्त' न्यायदर्शन आदि में आत्मा को चेतना का पर्यायवाची माना गया है। 'शिव-सूत्र' में चेतना को आत्मा कहा गया है—

‘चैतन्यात्मा’ ।

उसे ज्ञान का अधिकरण, अर्थात् आधार भी कहा गया है—

ज्ञानाधिकरणमात्मा ।<sup>57</sup>

इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा ही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का कारण है। इसीलिए भारतीय दर्शन का मूलमन्त्र, 'आत्मानं विद्धि' आत्मा जानने की ओर रहा है। क्योंकि ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए आत्मा को पहचानना नितान्त अनिवार्य शर्त मानी जाती है।

कबीर आध्यात्मिक महापुरुष थे। उन्होंने अध्यात्म ज्ञान के सम्बन्ध में अपना विचार प्रयुक्त करते हुए कहा कि—

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहू निज ब्रह्म विचार॥

केवल कहि समझाइया, आत्म साधन सार रे।<sup>58</sup>

यहाँ पर कबीर ने भी ब्रह्म-ज्ञान के लिए आत्म-चिन्तन पर ही बल दिया है। वे कहते हैं कि यह एक कविता मात्र नहीं है बल्कि हमने इन पंक्तियों में स्वानुभूति से प्राप्त ब्रह्म ज्ञान को प्रतिपादन किया है। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म साक्षात्कार के लिए चित्त को भगवान के चरण कमलों में लगाना आवश्यक है—

चरन कँवल चित्त लाइये, राम नाम गुन गाइ॥

कहै कबीर संसा नहीं; भगति मुक्ति गति पाइ रे।<sup>59</sup>

तथा वह व्यक्ति जो मन को नियन्त्रित करने में असमर्थ है उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। कबीर कहते हैं कि—

मन के हारे हार है मन के जीते जीत।

कह कबीर पिउ पाइए मनहीं की परतीत।<sup>60</sup>

अर्थात् मन पर अधिकार न रख सकने के कारण ही हमारी हार होती है। इसलिए कबीर कहते हैं कि अपने प्रियतम की उपलब्धि श्रद्धान्वित मन के द्वारा ही सम्भव है।

अतः एकाग्रचित्त मन तथा निरन्तर आत्मानुसन्धान के द्वारा सच्चाई का पता लगाया जा सकता है और जब मनुष्य को सत्य का ज्ञान हो जाता है, तभी उसे आनन्द की प्राप्ति हो सकती है और यह आनन्द ही ब्रह्म है, अध्यात्म तत्त्व है। यह ही सत्य ज्ञान है, ज्ञान ही आनन्द है और आनन्द ही ब्रह्म (अध्यात्म तत्त्व) है।

इस प्रसंग में तैत्तिरीय उपनिषद् की एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है।

भृगुवल्ली की कहानी “भृगु ने अपने पिता वरुण से कहा कि ‘भगवन्’ मैं ब्रह्मज्ञान पाना चाहता हूँ।” पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने आविष्कार किया कि अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। पुत्र ने दुबारा तप करके पता लगाया कि प्राण ही ब्रह्म है। फिर तप और फिर खोज—मन ही ब्रह्म है। फिर तप, फिर खोज— विज्ञान ही ब्रह्म है। पिता सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर तप। अबकी बार पिता ने सन्तुष्ट होकर पुत्र से सुना कि आनन्द ही ब्रह्म है—आनन्द अर्थात् अध्यात्म तत्त्व। इस प्रकार अन्न (भौतिक तत्त्व) प्राण—मन—विज्ञान (बुद्धितत्त्व) और आनन्द (अध्यात्म—तत्त्व), ये ज्ञान के पाँच स्तर हैं।”<sup>61</sup>

इन पाँच स्तरों में अन्तिम ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है जिससे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति

सम्भव है। कबीर भी इस बात को स्वीकारते हुए कहते हैं कि मैंने बहुत विचार करके देखा और पाया कि अविगत अलख और अभेद स्वरूप भगवान के समान कोई और दूसरा नहीं है। वह आनन्द स्वरूप है। वह सभी सुखों का दाता है। वह परमानन्द है—

कहै कबीर सरब सुख दाता, अविगत, अलख अभेद विधाता।<sup>62</sup>

उस आनन्द स्वरूप भगवान के दर्शन के लिए कबीर को मृत्यु भी आनन्दमयी प्रतीत होती है—

कब मारिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमँनंद।<sup>63</sup>

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। किन्तु जीवात्मा का परमात्मा से मिलन तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक वह सांसारिक माया—मोह से मुक्त नहीं हो जाती। इसके लिए मनुष्य को सत्य का ज्ञान होना आवश्यक है। जो कि मन (आत्मा) के वशीकरण में निहित है। मन को नियन्त्रित करने के पश्चात् ही मनुष्य को सत्य का ज्ञान होता है और सत्य का ज्ञान होते ही आत्मा (मन) का परमात्मा से मिलन हो जाता है जिसे अध्यात्म की संज्ञा दी गयी है। अतः मन को नियन्त्रित करना ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस महत्वपूर्ण कार्य की पूर्ति के लिए विभिन्न साधकों ने कर्म, ज्ञान तथा भक्ति आदि साधनों के प्रयोग का निर्देश दिया है।

## भक्ति

भारतीय जीवन में ईश्वर प्राप्ति की प्रमुख साधनाओं (कर्म, ज्ञान तथा भक्ति) में से भक्ति एक महत्वपूर्ण एवं अति प्राचीन साधना है। “महाभारत तथा इससे पूर्व के शाण्डिल्य सूत्र में तो भक्ति का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट दृष्टिगत होता है। श्रीमद्भगवद् गीता, श्रीमद्भागवत्, नारद भक्ति—सूत्र आदि उत्कृष्ट ग्रन्थ तथा स्तोत्र एवं स्तुतियाँ एक लम्बी परम्परा की कड़ियाँ हैं।”<sup>64</sup>



अतः भक्ति, हमारे लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। बल्कि प्राचीन काल से ही परम्परागत धार्मिक ग्रन्थों में सदैव से ही विद्यमान रही है तथा आध्यात्मिक चिन्तन को दृढ़ता प्रदान करने में सहायक रही है। आध्यात्म और भक्ति का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। “प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आध्यात्म-चेतना स्थायी रूप में विद्यमान रहती है। यही आध्यात्म चेतना अपने सरलीकृत लोकरूप में भक्ति-भावना के नाम से जानी जाती है। स्पष्टतः आध्यात्म चेतना भक्ति भावना से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध होती है। इसका मूल उद्देश्य भौतिक जगत् की क्षणभंगुरता से मुक्त होकर अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन करना होता है।”<sup>65</sup>

अतः भक्ति हृदय की वह भावना है जिसे मानव पूर्ण श्रद्धा अथाह प्रेम एवं अटल विश्वास के साथ किसी सात्त्विक केन्द्र में केन्द्रीभूत करके उससे तादात्म्य प्राप्त करता है और आनन्दित होता है और जब मनुष्य इस आनन्द की दशा को प्राप्त कर लेता है तो मानों उसने ईश्वर को प्राप्त कर लिया। “भक्ति का मार्ग मनुष्य की उचित क्रियाशीलता के भावनाप्रधान पक्ष के विधान की ओर संकेत करता है। भक्ति ज्ञान एवं कर्म दोनों से भिन्न भावनामय आसक्ति का नाम है। इसके द्वारा हम अपनी भावनात्मक सम्भावनाओं को दैवीय सम्भावना को अर्पित करते हैं।”<sup>66</sup> जब भक्त स्वयं को ईश्वर के प्रति पूर्णरूपेण न्यौछावर कर देता है तब वह न किसी अन्य वस्तु की इच्छा रखता है और न दुःख करता है। वह आत्म सन्तोष को प्राप्त कर परमात्मा में ही लीन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसने उसमें (ब्रह्म) चित्त लगाया उसी ने अनुभव किया है। इस अनुभव में ही उसे सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है और जब इस आनन्द की प्राप्ति हो जाती है तो मन अन्यत्र नहीं जाता। वह सदैव ईश्वर के स्वरूप चिन्तन में निमग्न रहता है। संसार के किसी भी आकर्षण का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। कबीर कहते हैं कि—

मन अब भया जु कामरी । चढे न दूजा रंग ।।<sup>67</sup>

इस प्रकार ईश्वर-प्राप्ति की अनन्त साधनाओं में भक्ति-साधना का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस किसी ने भी भक्ति रूपी नाव पर अपना कदम रख दिया वह इस भवसागर रूपी संसार से पार हो गया। यही कारण है कि “सभी सन्तों ने भक्ति की महिमा गाई है। दरिया साहब ने उसे कलियुग के सब पापों को दूर करने वाली कहा है। दादू दयाल ने भक्ति के बिना जीवन को ही व्यर्थ कहा है। सहजोबाई ने भक्ति के बिना योग, यज्ञ, आचार सबको थोथा कहा है और पलटू साहब तो कहते हैं कि भगवान के दरबार में केवल भक्ति मार्ग की ही प्रतिष्ठा है।<sup>68</sup>

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जिस समय समाज धर्म के वास्तविक मार्ग से भटक कर कर्मकाण्ड, तन्त्र-मन्त्र तथा मद्य-मैथुन में उलझ गया, उस समय सन्तों ने जनसाधारण का परिचय धर्म के वास्तविक रूप से कराया तथा धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया। उनके द्वारा किया गया यह प्रयास सन्त-साहित्य के अन्तर्गत आता है। इसका आधार है—शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन, सिद्धों का चिन्तन, एवं नाथयोगियों का चिन्तन। यद्यपि सन्त-साहित्य का मूल स्रोत सिद्धों एवं नाथों का साहित्य है। किन्तु इस पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का भी विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। शंकराचार्य ने आत्मा और परमात्मा की एकता को स्थापित करते हुए अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसी का आश्रय ग्रहण कर सन्तों ने भी आत्मा और परमात्मा की एकता को मान्यता प्रदान की। सिद्धों से उन्होंने सहज भक्ति-साधना को अपनाया। कबीर ने सहज शब्द का प्रयोग बार-बार किया है। किन्तु उनकी यह सहज भक्ति साधना सिद्धों की भाँति तामसिक न होकर सात्विक थी। स्थान-स्थान पर तीर्थाटन, मूर्ति-पूजा, गंगा-स्नान आदि बाह्याडम्बरों की निन्दा की प्रवृत्ति भी सन्तों ने सिद्ध-साहित्य से ही ग्रहण की है। मन के शुद्धिकरण के

लिए सन्तों ने नाथयोगियों से योग को अपनाया है। किन्तु उन्हें नाथयोगियों की भाँति शरीर में भस्म लगाना, लंबे बाल रखना तथा रूद्राक्ष की माला धारण करना स्वीकार नहीं था। उन्होंने इन चिह्नों को मन में धारण (सो जोगी जाके मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा।) करने की बात कही है। इस प्रकार सन्त-साहित्य पर अद्वैतवाद, सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य आदि सभी सम्प्रदायों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। किन्तु सन्तों ने इन सम्प्रदायों की प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपनी कुछ मौलिक बातों को भी इनके साथ जोड़ दिया, जो धर्म को अत्यन्त सात्विक, सरल, सहज एवं बौद्धिक बनाने वाली थीं।

सन्दर्भ :

1. राजदेव सिंह—सन्तों का भक्तियोग (उन्मनी के प्रकाश में), प्रथम संस्करण—1968, पृ0 9, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी—1
2. डॉ0 कोमल सिंह सोलंकी—नाथपंथ और निर्गुण संत—काव्य, प्रथम संस्करण—1966, पृ0 17, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।
3. डॉ0 शिवकुमार शर्मा— हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियों, सोलहवों संस्करण—1998, पृ0 133, आशोक प्रकाशन, 2615, नई सडक, दिल्ली—6
4. कालिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव—वृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् संस्करण—सितम्बर— 1992, पृ0 36, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, विक्रम भवन, लंका वाराणसी—221005
5. डॉ0 केशनीप्रसाद चौरसिया—मध्यकालीन विचार और साधना, प्रथम संस्करण— 1965, पृ0 35—36, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद।
6. डॉ0 बबीता शर्मा—आचार्य शंकर और संत कबीर एक दार्शनिक अनुशीलन, प्रथम संस्करण—2006, पृ0 72, आर0 डॉ0 पाण्डेय, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, एन—3/25 मोहन गार्डन उत्तम नगर नई दिल्ली—110059
7. वही, पृ0 73
8. डॉ0 मंजू—अद्वैतवाद और शून्यवाद, प्रथम संस्करण— 1986, पृ0 75, इस्टर्न बुक लिंकर्स, 58/25 न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली— 110007
9. डा0 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल—हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों, दसवों संस्करण—1977, पृ0 160, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
10. डॉ0 रामजीलाल 'सहायक'—कबीर—दर्शन, प्रथम संस्करण— 1962 पृ0 66, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।
11. डॉ0 श्यामसुंदर दास (संपा0)—कबीर ग्रंथावली, 24वों संस्करण सं0— 2061 वि0, पृ0 91, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
12. डॉ0 बबीता शर्मा—आचार्य शंकर और संत कबीर एक दार्शनिक अनुशीलन, प्रथम संस्करण—2006, पृ0 72, आर0 डॉ0 पाण्डेय, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, एन—3/25 मोहन गार्डन उत्तम नगर नई दिल्ली 110059
13. डॉ0 श्यामसुंदर दास (संपा0)—कबीर ग्रंथावली, 24वों संस्करण सं0—2061 वि0, पृ0 203, नागरी

- प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
14. वही, पृ० 81
  15. डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया—मध्यकालीन विचार और साधना, प्रथम संस्करण—1965, पृ० 103—04, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद ।
  16. डॉ० श्यामसुन्दर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण सं०— 2061 वि०, पृ० 167, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
  17. वही, पृ० 82
  18. वही, पृ० 13
  19. डॉ० पीताम्बरदत्त बडथवाल—हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण 1995, पृ० 120, तक्षशिला प्रकाशन, 23/4762 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
  20. डॉ० श्यामसुन्दर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण सं०— 2061 वि०, पृ० 150, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
  21. वही, पृ० 80
  22. डॉ० बबीता शर्मा—आचार्य शंकर और संत कबीर एक दार्शनिक अनुशीलन, प्रथम संस्करण— 2006, पृ० 47, आर० डॉ० पाण्डेय, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, एन—3/25 मोहन गार्डन उत्तम नगर नई दिल्ली—110059
  23. डॉ० श्यामसुन्दर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण सं०— 2061 वि०, पृ० 73, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
  24. वही, पृ० 186
  25. डॉ० जगन्नाथ शर्मा— उदासीन सम्प्रदाय के हिन्दी कवि और उनका साहित्य, संस्करण प्रथम— 1981, पृ० 23, विभू प्रकाशन साहिबाबाद ।
  26. डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट—हिन्दी साहित्य: संक्षिप्त परिचय, संस्करण— 1990, पृ० 36 विनोद प्रसाद, श्याम प्रकाशन, श्री अल्मोडा बुक डिपो, अल्मोडा—263601
  27. डॉ० नगेन्द्र—हिन्दी साहित्य का इतिहास, चौतीसवाँ संस्करण 2007, पृ० 62, मयूर पेपर बैक्स, ए—15, सेक्टर—5, नोएडा—201301
  28. डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया—मध्यकालीन विचार और साधना, प्रथम संस्करण— 1965, पृ० 82, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद ।

29. डॉ० मोतीसिंह— निर्गुण साहित्य: सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण— संवत् 2019वि०, पृ० 39, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।
30. रामरतनभटनागर—हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन, संस्करण 1948, पृ० 19, किताब महल, 56—ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
31. डॉ० नगेन्द्र—हिन्दी साहित्य का इतिहास, चौतीसवाँ संस्करण—2007, पृ० 63, मयूर पेपर बैक्स, ए—15, सेक्टर—5, नोएडा—201301
32. डॉ० बच्चन सिंह—हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, प्रथम संस्करण—1996, प्रथम आवृत्ति—1997, पृ० 89, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा०लिमि०, 52/38, अन्सारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
33. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण सं०—2061 वि०, पृ० 181, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
34. वही, पृ० 146
35. डॉ० मोतीसिंह— निर्गुण साहित्य: सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण— संवत् 2019 वि०, पृ० 36, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।
36. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण सं०—2061 वि०, पृ० 30, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
37. डा० नगेन्द्र (संपा०)—हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण—1993, पृ० 63, मयूर पेपर बैक्स, ए—15, सेक्टर—5, नोएडा—201301
38. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण सं०— 2061 वि०, पृ० 2, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
39. वही, पृ० 115
40. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद, प्रथम संस्करण—जून—1984, पृ० 24, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट अलीगढ़।
41. डॉ० शिवकुमार शर्मा—हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवाँ संस्करण, 1998, पृ० 30, अशोक प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली—110006
42. डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल—हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, दसवाँ संस्करण—1977, पृ० 160, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
43. डॉ० लक्ष्मण सिंह बिष्ट— हिन्दी साहित्य: संक्षिप्त परिचय, संस्करण— 1990, पृ० 37, विनोद

- प्रसाद, श्याम प्रकाशन, श्री अल्मोडा बुक डिपो, अल्मोडा-263601
44. डॉ० शिवकुमार शर्मा— हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवें संस्करण, 1998, पृ० 35, अशोक प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली-110006
  45. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्रथम संस्करण-1940, आठवी आवृत्ति-1969, पृ० 69, राजकमल प्रकाशन, प्रा० लिमि०, 8, फैज बाजार, दिल्ली-110006
  46. डॉ० शिवकुमार शर्मा—हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवें संस्करण, 1998, पृ० 34, अशोक प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली-110006
  47. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वें संस्करण सं०-2061 वि०, पृ० 86, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
  48. वही, पृ० 118
  49. कालिका प्रसाद, राजबल्लभ रहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव—वृहत् हिन्दी कोश, सप्तम परिवर्धित संस्करण-1992, पृ० 509, ज्ञान मण्डल लिमि०, विक्रम भवन, वाराणसी-221005
  50. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1963, पृ० 223, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ।
  51. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 160, महेश त्रिपाठी पुस्तक संस्थान 101/50 नेहरू नगर कानपुर।
  52. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1963, पृ० 116-17, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन लखनऊ।
  53. प्रो० हरेन्द्र सिन्हा—भारतीय दर्शन की रूपरेखा, संस्करण- 1993, पृ० 1, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
  54. डॉ० राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड (वैदिक युग से बौद्धकाल तक), संस्करण-2002, पृ० 36, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली।
  55. डॉ० मंजू—अद्वैतवाद और शून्यवाद, प्रथम संस्करण- 1986, पृ० 5, इस्टर्न बुक लिक्र्स, 58/25 न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली- 110007
  56. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वें संस्करण, सं०- 2061 वि०, पृ० 229, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
  57. डॉ० कृष्णदेव शर्मा— भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र पृ० 11, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा-2

58. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं०— 2061 वि०, पृ० 70, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
59. वही, पृ० 70
60. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर वचनावली, बारहवाँ संस्करण—सं० 2021 वि०, पृ० 152, नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।
61. हजारीप्रसाद द्विवेदी—सहज—साधना, द्वितीय संस्करण 1989, पृ० 36—37, राजकमल प्रकाशन प्रा०लिमि०, 1—बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली— 110002
62. डॉ० श्यामसुंदर दास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं०— 2061 वि०, पृ० 141, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
63. वही, पृ० 54
64. डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, पृ० 12, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा—3
65. डॉ० प्रेमिराम मिश्रा—हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल, संस्करण— 1992, पृ० 1, राजस्थान प्रकाशन, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर—2
66. डॉ० राधाकृष्णन्—भारतीय दर्शन (वैदिक युग से बौद्धकाल तक), संस्करण—2002, पृ० 457, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली
67. महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)— महाबीजक, पृ० 1117, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सद्गुरु कबीर मंदिर, सी—23/5 कबीरचौरा मठ, वाराणसी—221001
68. डॉ० बाबूराव जोशी—संत—काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप (सं०— 1500 से 1700वि०), संस्करण—1968, पृ० 211, कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर—1



# अध्याय—तृतीय

कबीर की वैचारिकता : धार्मिक  
आस्था और सामाजिक  
अधिकार का प्रश्न

## अध्याय : तृतीय

### कबीर की वैचारिकता : धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार का प्रश्न

अलौकिक सत्ता में विश्वास का नाम ही धर्म है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। “मानव मन के लिए ईश्वर में विश्वास एक अति स्वाभाविक अपेक्षा है। सभ्य या असभ्य अथवा प्रबुद्ध या अज्ञानी सभी मनुष्य प्रायः ईश्वर में विश्वास रखते हैं। सभी का यह कहना होता है कि ईश्वर की आस्था हेतु उन्हें किसी पाठशाला में नहीं पढ़ाया गया। यह तो उन्हें स्वतः अनायास ही प्राप्त हो गया ज्ञान है।”<sup>1</sup>

जिस प्रकार मनुष्य का अलौकिक शक्ति में आस्था या विश्वास स्वाभाविक है, उसी प्रकार उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, प्रेम या भक्ति-भावना भी मानव हृदय का स्वाभाविक गुण है। यदि हम आस्था, प्रेम एवं भक्ति को धर्म का क्रमगत आवश्यक अंग कहें तो असत्य न होगा। धर्म, ईश्वर में विश्वास एवं आस्था का नाम है और आस्था भक्ति को जन्म देती है तथा भक्ति प्रेम के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। अतः धर्म मानसिक प्रवृत्तियों से प्रेरित अलौकिक शक्तियों में विश्वास एवं उपासना पर आधारित है।

“धर्म” भारतीय संस्कृति का एक आधारभूत शब्द है। यह शब्द ‘धृ’ धातु से बना है जिसका अर्थ ‘धारण करना’, ‘रक्षा करना’, ‘सम्भाले रखना है।’<sup>2</sup>

हिन्दू धर्म मान्यता के अनुसार धर्म को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

1. साधारण धर्म
2. विशेष धर्म
3. आपद धर्म।

साधारण धर्म, सामान्य धर्म या मानव धर्म की विशेषता से पूरित होता है तथा विशेष

धर्म का आशय वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार आचरण करने से है। आपद धर्म वह संकटकालीन धर्म है जिसमें मनुष्य परिस्थिति के अनुसार न्याय-अन्याय के भाव को ध्यान में रखकर स्व-विवेक से निर्णय लेने में पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

अतः हिन्दू मान्यता के अनुसार निर्धारित धर्म की विभिन्न श्रेणियों पर एक दृष्टि डालने से हमें यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त धर्मों में से कबीरकालीन समाज 'विशेषधर्म या वर्णाश्रम धर्म' पर आधारित था, जिसके अनुसार प्रत्येक जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के कार्यों का विभाजन उच्चता से निम्नता के क्रम में जाति के आधार पर किया गया था। इस प्रकार के श्रेणीगत विभाजन करने में हिन्दू धर्म शास्त्रों की अहम भूमिका थी। इन धर्म शास्त्रों में प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने दायित्वों की पूर्ति पर विशेष बल दिया गया है। मनु ने तो वर्ण-व्यवस्था के पालन को ही सदाचार बताया है—

तस्मिन् देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः

वर्णानां सामान्तरालानां स सदाचार उच्यते।<sup>3</sup>

अर्थात् (तस्मिन् देशे) उस ब्रह्मावर्त देश में (वर्णानां सामान्तरालानां पारंपर्यक्रमागतः यः आचारः) वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के आरंभ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो आचार है वह 'सदाचार' कहलाता है। इस प्रकार मनु वेद विहित आचार को ही 'सदाचार' मानते हैं। इसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है, क्योंकि इसका उल्लंघन करने का अर्थ है— धर्म शास्त्रों का उल्लंघन करना। जबकि धर्म में आस्था रखने वाला संसार का कोई भी प्राणी धर्मशास्त्रों का उल्लंघन करना नहीं चाहेगा। यही कारण है कि लोग बिना किसी तर्क के सदियों से इसका अनुसरण करते आ रहे थे। यद्यपि उन्हें विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था विशेष रूप से शूद्रों को जिन्हें जातियों में सबसे निम्न स्थान प्राप्त था। उन्हें न केवल श्रेणीगत जाति विभाजन में

निम्न स्थान प्राप्त था, बल्कि उन्हें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार के अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया था। इस प्रकार अपने समस्त अधिकारों से वंचित निम्न जातियाँ, उच्च जातियों के द्वारा किये गये अन्याय एवं अत्याचार को सहन करने के लिए अभिशप्त थीं। परन्तु मानवता के पुजारी सन्त कवि कबीर इस व्यथा से चिन्तित हो उठे। उन्हें यह अमानवीय व्यवहार किसी भी रूप में स्वीकार नहीं था। अतः धार्मिक आस्था और सामाजिक अधिकार के प्रश्न को सुलझाने के लिए उनका व्याकुल हृदय संघर्ष करने को तत्पर हो उठा। उन्होंने वेद आदि को गले की फाँसी कहकर सर्वप्रथम वेदों का ही उल्लंघन एवं विरोध किया, साथ ही धार्मिक आस्था से जुड़ी उन समस्त रूढ़ियों, परम्पराओं एवं मिथ्या आडम्बरों का विरोध भी किया, जो मानवीय सामाजिक अधिकारों के मार्ग में बाधक थे। उनका विचार था कि संसार के समस्त प्राणी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। अतः उनमें धर्म, वर्ण, या जाति के आधार पर भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए और न ही उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करना किसी भी प्रकार से धर्मोचित कार्य हो सकता है। उन्होंने सामान्य जन के लिए 'सामान्य धर्म या मानव धर्म' की व्यवस्था कर सम्पूर्ण मानव जाति को समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया तथा धर्म के नाम पर उच्चता एवं निम्नता का भाव पैदा करके सामाजिक अधिकारों से वंचित करने वाली इस व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) का घोर विरोध किया।

### 1. धर्म के परम्परागत रूप पर प्रश्न चिह्न

धर्म अपने परम्परागत रूप में लोगों द्वारा समाज की सुव्यवस्था और विकास में सहायक माना जाता है। "धर्म जीवन के परम्परागत ढंगों का समर्थन करके सामाजिक व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान करता है जिससे सामाजिक एकता स्थापित होती है।"<sup>4</sup> इस सन्दर्भ में थामस ओडिया लिखते हैं कि "धर्म व्यक्ति का समूह में एकीकरण करता है,

अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है, सामाजिक लक्ष्यों के प्रति व्यक्ति को जागरूक बनाता है और एक दूसरे के निकट आने की भावना को प्रोत्साहन देता है।”<sup>5</sup> इस प्रकार थामस ओडिया ने धर्म के सामाजिक महत्व को स्पष्ट किया है जो सर्वांश में सत्य भी है क्योंकि प्रत्येक धर्म के वास्तविक अंश में समाज-कल्याण का भाव आवश्यक रूप से विद्यमान रहता है। किन्तु जब यह समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार की सामाजिक मान्यताओं के सम्पर्क से होकर गुजरता है तब इसमें रूढ़िवादिता का पुट भी शामिल हो जाता है। ऐसी स्थिति में संकीर्णता एवं कट्टरता अपना पैर पसारने लगती है जो समाज के लिए घातक सिद्ध होता है।

अतः पूर्व में जो धर्म सामाजिक एकता का परिचायक था, कालान्तर में यह अनेक बुराइयों से ग्रस्त हो गया और वही धर्म सामाजिक एकता को खण्डित करने का कारण बन गया। आज विडम्बना यह है कि धर्म से जुड़ी विभिन्न प्रकार की परम्पराएँ रूढ़िवादिता को जन्म देती हैं तथा अति रूढ़िवादिता समाज कल्याण के लिए अत्यन्त घातक है इस बात से हम अच्छी तरह परिचित हैं फिर भी इसे छोड़ना नहीं चाहते। कारण, अब हम पूर्णरूपेण इस के अभ्यस्त हो चुके हैं। “हमारे शिष्टाचार और हमारी प्रथाएँ कुछ अंशों में अपने चिन्तन पर, कुछ अंशों में वंशानुगतक्रम से प्राप्त होने वाली भावनाओं से उत्पन्न आदतों पर, कुछ अंशों में अपने वातावरण के प्रति क्रमिक और अनजान समायोजन पर, कुछ अंशों में महान् व्यक्तित्व वाले लोगों के आकर्षक प्रभावों, कुछ अंशों में मूलतः अज्ञात प्रथाओं पर, और प्रायः कुछ अंशों में विशेष लोगों, समूहों तथा दूसरे लोगों के दबावों पर आधारित होती हैं।... इस तरह से प्राप्त रूप अन्त में परम्परागत बन जाते हैं और फिर ये परम्पराएँ मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो जाती हैं।”<sup>6</sup> अतः जब ये परम्पराएँ मनुष्य के स्वभाव में पूर्णतः शामिल हो जाती हैं, तब मनुष्य इन्हें करने में बिल्कुल भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करता और न

ही उसके मस्तिष्क में कभी उचित-अनुचित का ध्यान आता है। यदि इन्हें त्यागने की बात की जाय तो मनुष्य धर्म से जुड़ी इन परम्पराओं के प्रति और अधिक आस्थावान हो उठता है, चाहे वह व्यर्थ, तर्कहीन तथा अन्धविश्वासों पर ही क्यों न आधारित हों।

यद्यपि धर्म का अर्थ-धारण करना लगाया गया है। किन्तु इसे धर्म के वास्तविक रूप को धारण करने के अर्थ में लेना चाहिए, न कि धर्म के नाम पर समाज में व्याप्त कुत्सित एवं तर्कहीन परम्पराओं को धारण करने के। किन्तु आज भी संसार के अधिकांश लोग बिना तर्क के इस मत का समर्थन करते हैं कि धर्म धारण करने की वस्तु है, न कि तर्क का विषय। यही कारण है कि धर्म के नाम पर संसार में कितनी भी बुराईयाँ दृष्टिगत हो रही हों फिर भी लोग उस पर बहस करना पसन्द नहीं करते, बल्कि वे उस पर अन्धाविश्वास करते हैं और बड़ी ही श्रद्धा के साथ उसका अनुसरण भी करते हैं, किन्तु क्रान्ति के अग्रदूत कबीर को यह बात स्वीकार नहीं थी। अतः उनकी विद्रोही भावना समाज की जर्जरित अवस्था को देखकर तड़प उठी। उन्होंने सामाजिक बुराइयों को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया। “निःसन्देह धर्म के समुचित परिपालन के लिए किन्हीं आचारों एवं विधि-विधानों की आवश्यकता होती है, परन्तु धर्म में केवल सात्विक आचारों को महत्त्व दिया जाना चाहिए जबकि मध्ययुग में धर्म के सभी आचार तामसिक व रजोगुणी हो गये थे और जनता मिथ्याचारों को ही धर्म समझने लगी थी।” पूजा जो पहले मुक्ति के लिए हुआ करती थी, अब वह पार्थिव इच्छाओं की पूर्ति के लिए होने लगी। तत्कालीन समाज का प्रत्येक व्यक्ति धर्म से गहरा जुड़ा हुआ था किन्तु उसका सम्बन्ध धर्म के वास्तविक रूप से न होकर बल्कि कृत्रिम रूप से था। वह अपने पथ से विचलित हो गया था। उसकी आस्था सत्य से हटकर असत्य में संलग्न थी। इसका कारण यह था कि “धर्म के पवित्र रूप को बाह्याचारों और असत्य ने इस प्रकार आच्छादित कर लिया था कि असत्य ही सत्य के रूप में प्रतिभासित

सा प्रतीत होने लगा। अंधविश्वासों ने सद्विश्वासों का स्थान ग्रहण कर लिया था। अहिंसा, त्याग और सत्य का स्थान पशु-बलि, नर-बलि और हिंसा ने ग्रहण कर लिया था। साधन के स्थान पर बाह्याचारों की प्रतिष्ठा हो रही थी।<sup>18</sup> इसका प्रभाव हिन्दू-मुसलमान आदि सभी सम्प्रदाय के लोगों पर पड़ा। ये सभी अपने वास्तविक धर्म को भूलकर अपने-अपने धार्मिक नेताओं का अनुकरण कर रहे थे। धर्म के नाम पर अधर्म और आचार के नाम पर अनाचार चारों तरफ फैल रहा था जो कबीर के लिये असहनीय था। उन्होंने हिंसा, साम्प्रदायिकता, बाह्याडम्बर, मूर्ति-पूजा, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि बुराईयों की कटु आलोचना की। उन्होंने न केवल आलोचना की, बल्कि अपनी तर्क शक्ति और ज्ञान के बल पर विविध मतवादों के खोखलेपन को जन-जन के सम्मुख निःसंकोच भाव से प्रकट किया और धर्म के परम्परागत रूप पर प्रश्न चिह्न लगा दिया, जो निम्न विवेचन से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

### हिंसा

सामान्यतः यह कहा जाता है कि ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि में समाया है। वह कण-कण में व्याप्त है, जीव उसी का अंश है। तुलसी ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा था कि “ईश्वर अंश जीव अविनासी” कबीर कहते हैं कि यह कैसी विडम्बना है, जब सभी मनुष्यों को यह ज्ञात है कि प्रत्येक जीव में ईश्वर का निवास है, फिर जीव हत्या क्यों? हिन्दू लोग यज्ञ के नाम पर-अश्वमेघ, नरमेघ गोमेघ तथा अजामेघ करते हैं, तो मुसलमान स्वभक्षण के लिए जीवों का गला काटते हैं और कहते हैं कि हमने हलाल किया है। तो क्या कोई आप को आप मारता है और आप को आप खाता है। इस तरह देखा जाय तो दोनों ही अपने-अपने रास्ते से भटक गये हैं और कुकर्म करते हैं और इसे धर्म बताते हैं। अरे भई जहाँ जीव हत्या हो, वहाँ पाप है। धर्म कैसा?

“संतों पांडे निपुन कसाई ।।

बकरा मारि भैंसा पर धावै । दिल महुँ दरद न आई ।।

करि असनान तिलक दें बैठे । विधि सो देबि पूजाई ।।

आतमराम पलक में बिनसे । रुधिर कै नदी बहाई ।।

अति पुनीत ऊँचे कुल कहिए । सभा माहिं अधिकाई ।।

इन्हते दिच्छा सभ कोइ मांगे । हंसि आवै मोहि भाई ।।

पाप कटन की कथा सुनावैं । करम करावैं नीचा ।।

X X X

गाय बधे ते तुरक कहिए, इनते वै का छोटे ।।

कहै कबीर सुनो हो संतो । कलि मा बांभन खोटे ।।<sup>9</sup>

हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ही दया छोड़ दी है और हिंसा के पुजारी बन गये हैं ।  
अन्तर बस इतना है कि एक जीव हत्या को झटका तो दूसरा उसे हलाल बताता है—

“हिन्दू की दया मेहर तुरकन की । दूनों घट सों त्यागी ।।

ई हलाल वै झटका मारैं । आगि दूनों घर लागी ।।<sup>10</sup>

किन्तु कबीर को इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि एक जीव की मृत्यु के पश्चात् घर के अन्य सदस्य भोजन नहीं करते अर्थात् यदि परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाय तो लोग खाना, खाना भी पसन्द नहीं करते, किन्तु दूसरी ओर खाने के लिए ही जीव हत्या करते हैं । यह कैसा धर्म है—

पंडित इक अचरज बड़ होई ।।

इक मरि मुअै अन्न नहिं खाये । इक मरे सीझे रसोई ।।<sup>11</sup>

इसी प्रकार पण्डित लोग नव-गुण से सम्पन्न कांधे पर जनेऊ धारण करके भक्ति



करते हैं, और संसार से मुक्ति पाने का उपाय बताते हैं तथा स्वयं को धर्म के रक्षक एवं पण्डित कहते हैं। इस बात पर कबीर कटाक्ष करते हुए पूछते हैं कि यदि ये रक्षक हैं, पण्डित हैं, तो कसाई किसे कहेंगे—

पंडित एक अचरज बड़ होई ।।

धरम करै जहाँ जीव बधतु है । अकरम करे मोरे भाई ।।

जो तोहरा को बाभन कहिये । तो काको कहिये कसाई ।।

कहत कबीर सुनो हो संतो धरम भूलि दुनियाई ।।<sup>12</sup>

इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही धर्म के उच्च आदर्शों को छोड़ दिया है तथा धर्म के नाम पर विभिन्न प्रकार के अधार्मिक कर्मों में संलग्न हैं। कबीर का मन इस बात से और अधिक विचलित हो जाता है, जब वे देखते हैं कि एक दो नहीं बल्कि सम्पूर्ण संसार ही भ्रम में पड़ा है और अधर्म को धर्म मान बैठा है।

### साम्प्रदायिकता

सम्प्रदाय शब्द का अर्थ भार्गव आदर्श हिन्दी शब्द कोश में इस प्रकार स्पष्ट हुआ है “गुरु, परंपरागत, उपदेश, गुरु—मन्त्र, कोई विशेष धर्म सम्बन्धी मत, मार्ग, पन्थ या रीति।”<sup>13</sup> यहाँ पर सम्प्रदाय से हमारा तात्पर्य ‘कोई विशेष धर्म सम्बन्धी मत’ से है। यह ‘विशेष धर्म सम्बन्धी मत’ तब तक कोई समस्या नहीं खड़ी करता, जब तक यह सम्प्रदाय, साम्प्रदायिकता में परिवर्तित नहीं हो जाता। क्योंकि “साम्प्रदायिकता अपने ही साम्प्रदायिक समूह के प्रति तीव्र निष्ठा की भावना है। यह संकुचित निष्ठा है जो एक सम्प्रदाय के लोगों को दूसरे सम्प्रदाय के लोगों के प्रति घृणा, सन्देह और दुराग्रह रखने की प्रेरणा देती है। साम्प्रदायिकता सम्पूर्ण समाज की अपेक्षा केवल अपने सम्प्रदाय का हित चिन्तन करने की मनोवृत्ति है जो राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके विभिन्न सम्प्रदायों के बीच तनाव उत्पन्न करने में सहायक

होती है।<sup>14</sup> यह सम्प्रदाय साम्प्रदायिकता में तब परिवर्तित होता है जब “कोई विशेष धर्म सम्बन्धी मत में प्रयुक्त ‘विशेष’ पर अधिक बल दिया जाता है। इसीलिए कबीर किसी धर्म को ‘विशेष’ स्वीकार नहीं करते हैं और न किसी व्यक्ति को। उनका मानना है कि सम्पूर्ण सृष्टि का सृष्टिकर्ता एक ही है, अतः इसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं करना चाहिए। फिर भी समाज में ऐसी स्थिति को देखकर कबीर व्याकुल हो उठते हैं और पूछते हैं कि—

दुइ जगदीश कहाँ ते आए कहूँ कौने भरमाया ॥

अल्ला राम करिम केशव हरि हजरत नाम धराया ॥

गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा ॥

कहन सुनन को दुइ कर थाते एक नेवाज एक पूजा ॥<sup>15</sup>

### बाह्याडम्बर

मध्यकालीन समाज अत्यधिक विकृत अवस्था में था। उसमें विभिन्न प्रकार की रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ व्याप्त थीं, जो सन्तों को बुरी तरह खल रही थीं। अतः उन्होंने समस्त आडम्बर मूलक प्रवृत्तियों को नष्ट करने का प्रयास किया। कबीर ने इन बाह्याडम्बरों की कड़ी निन्दा की है। वे कहते हैं कि मनुष्य जो धर्म के वास्तविक रूप को भूलकर धर्मान्धता में पड़ा हुआ है और लोगों को धोखा दे रहा है, वह वास्तव में स्वयं को धोखा दे रहा है। अतः कबीर इन अज्ञानी भक्तों एवं धार्मिक अन्धविश्वास तथा व्यर्थ के कर्मकाण्ड में फंसे जनमानस पर कटु व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

काँ नाँगे का बाँधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम राम ॥

नांगे फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई ॥

मूँड़ मुड़ायै जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ॥<sup>16</sup>

इस प्रकार मनुष्य अति धार्मिकता में पड़कर धर्म के नाम पर विभिन्न प्रकार के

निरर्थक एवं निराधार आचरण में लगा हुआ था। यहाँ पर सामाजिक लोकाचार की अति हो जाती है, जब लोग मरने के बाद पितृ स्नेह प्रदर्शित करते हैं जबकि जीवित रहते हुए उन्हें अपराधी मानते हैं और अनेकानेक विधियों से उन्हें प्रताड़ित करते हैं। कबीर कहते हैं कि यह कितने आश्चर्य की बात है कि लोग जीते-जी पिता की आवश्यक आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं करते, और मरने के बाद गंगाजल से श्रद्धांजलि देते हैं, श्राद्ध कराते हैं—

ताथैं कहिये लोकाचार,

वेद कतेब कथैं ब्योहार॥

जारि बारि करि आवै देहा, मूबां पीछै प्रीति सनेहा॥

जीवन पित्रहि गारहिं डंडा, मूवां पित्र ले घालैं गंगा॥

जीवत पित्र कूं अन न ख्वावै, मूवा पीछे प्यंड भरावै॥

जीवत पित्र कूं बोलै अपराध, मूवां पीछे देहि सराध॥

कहि कबीर मोहि अचरज आवै, कउवा खाइ पित्र क्यूं पावै॥<sup>17</sup>

### मूर्ति-पूजा

कबीर जी के अनुसार मूर्ति-पूजा धर्म नहीं बल्कि भ्रम है। वह मनुष्य अज्ञानी है, नादान है जो जीवित मनुष्य की सेवा नहीं कर सकता और पत्थर के देवालय में रखी प्रस्तर मूर्ति के सम्मुख समृद्धि-कामना करता है। इस अज्ञानी एवं अन्धविश्वासी मानव की पूजा निश्चय ही व्यर्थ जाने वाली है—

पांहण केरा पूतला, करि पूजै करतार।

इही भरो सै जे रहे, ते बूड़े काली धार॥<sup>18</sup>

यह जानते हुए भी कि मूर्ति पत्थर की है उसे जहाँ एक बार रख दो वहीं सदैव रखी रह जाती है, फिर भी लोग उसे देवी-देवता मानकर उपासना करते हैं, किन्तु अन्त में उन्हें

निराशा ही मिलती है—

पाँहिन कूँ का पूजिए, जे जनम न देई जाब ।।

आँधा नर आसामुषी, यौही खोवै आब ।।<sup>19</sup>

### जाति-पाँति

जाति-पाँति की धारणा व्यक्ति की मानसिक संकीर्णता का परिणाम है। इस भावना से ग्रस्त व्यक्ति केवल अपनी ही जाति के बारे में सोचता है जिससे अन्य जाति के बीच खाई चौड़ी होती है और ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि का जन्म होता है। काका कालेकर के मतानुसार—“जातिवाद समूह के प्रति अन्धी एवं सर्वोच्च निष्ठा है, जो न्याय, सदाचार, समानता एवं विश्व-बन्धुत्व के स्वस्थ स्तरों का उल्लंघन करती है।”<sup>20</sup>

मध्यकालीन समाज जाति-पाँति की कुत्सित भावना से बुरी तरह ग्रस्त था। व्यक्ति की उच्चता एवं निम्नता का आधार वर्ण एवं जाति था। निम्न जातियाँ उच्च जातियों की प्रताड़ना की शिकार थीं। उनका समाज में कोई अस्तित्व नहीं था। वे अपने समस्त अधिकारों से वंचित थी। उन्हें भक्ति भावना का भी अधिकार प्राप्त नहीं था। किन्तु कबीर जाति-पाँति का घोर विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि भक्ति तो कोई ऐसा सूरमा ही कर सकता है जो वर्ण जाति आदि संकीर्ण भावना से मुक्त हो—

भक्ति करै कोइ सूरमा जाति वरन कुल खोय ।<sup>21</sup>

### ऊँच-नीच

मध्यकालीन समाज में जाति-पाँति की संकीर्ण भावना की भाँति ऊँच-नीच का भाव भी दृढ़ था। समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ घृणित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थीं। किन्तु कबीर ने इस कुप्रथा पर जबरदस्त चोट की। वे जातीयता के आधार पर ऊँच-नीच के भेद को नहीं मानते। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।<sup>22</sup>

इस सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता एक ही है और उसने सम्पूर्ण मानवजाति की रचना समान तत्वों के सम्मिश्रण से ही की है—

पांच तत्व का पूतरा, रज बीरज की बूंद।

एकै घाटी नीसरा, ब्राह्मन, छत्री, सूद।<sup>23</sup>

इस स्थिति में ऊँच-नीच का प्रश्न ही नहीं उठता। कबीर कहते हैं कि ऊँचे कुल में जन्म लेना उच्चता नहीं है—

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणीं ऊँच न होइ।।

सोवन कलस सुरे भर्या, साधू निंदा सोइ।<sup>24</sup>

अतः ऊँच और नीच मनुष्य अपने कर्मों के आधार पर बनता है। एक स्थान पर सन्त कवि रविदास ने भी बड़ी ही सहजता से इसे व्यक्त किया है। कि कोई भी व्यक्ति जन्म के कारण ऊँचा या नीचा नहीं हो सकता। हाँ वह अपनी ओछी करनी द्वारा अवश्य नीच हो सकता है।

### छुआछूत

“गांधीजी अस्पृश्यता को हिंदू समाज का कोढ़ मानते थे। उनकी कट्टरवादियों को चेतावनी थी कि यदि अछूतों के साथ होने वाले अन्यायों का प्रतिकार न किया गया तो हिंदुओं का नाश हो जायेगा।”<sup>25</sup> अतः छुआछूत भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या है। भारत की जातीय संरचना में कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्हें अछूत की सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताओं के शिकार हैं। डॉ० डी०एन० मजूमदार ने अस्पृश्यता का उल्लेख करते हुए लिखा है— अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जो बहुत सामाजिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, जिनमें से अधिकांश निर्योग्यताएं परम्पराओं द्वारा मान्य और उच्च जातियों द्वारा

आरोपित हैं।<sup>26</sup>

“The untouchable castes are those who suffer from various social and political disabilities, many of which are traditionally prescribed and socially enforced by higher castes.” अर्थात् अतः हिन्दू समाज वर्ण-व्यवस्था के अनुसार-बटा हुआ था। इस धार्मिक विभाजन के अनुसार ब्राह्मण सबसे ऊँचे माने जाते थे और निम्न जातियों के साथ पशुवत् व्यवहार होता था। यह भावना दिनोंदिन बढ़ती गयी और छुआछूत की इस बीमारी ने अपना भयंकर रूप धारण कर लिया। इस सम्बन्ध में पीताम्बर दत्त जी कहते हैं कि “शूद्र, जो नीचतम वर्ण में थे, सभ्य-समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गए। वेद और धर्मशास्त्रों के अध्ययन का उन्हें अधिकार न था। उनमें से भी अंत्यजों के लिए तो देव-दर्शन के लिए मंदिर-प्रवेश भी निषिद्ध था। उनका स्पर्श तक अपवित्र समझा जाता था।”<sup>27</sup> अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि निम्न जातियों के प्रति उच्च जातियों द्वारा अपनाया गया यह व्यवहार कितना अधिक असहनीय एवं पीड़ादायक रहा होगा जिसे वे सहन करने के लिए विवश थे। किन्तु कबीर से उनकी यह विवशता देखी नहीं गयी। वे हिन्दू समाज में धर्म के नाम पर होने वाले इस अनर्थ को देखकर द्रवित हो उठे। उन्होंने छुआछूत एवं वर्ण-व्यवस्था दोनों का विरोध किया। उनका मानना था कि—

काहे को कीजै। पांडे छोंति बिचारा।।

छोतिहीं तै उपना। सब संसारा।।

हमारे कैसे लोहू। तुम्हारे कैसे दूध।।

तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे। हम कैसे सूद।।<sup>28</sup>

इसलिए जन्म के आधार पर पवित्र समझना तथा निम्न जातियों को अछूत मानकर घृणा करना धर्म नहीं बल्कि अधर्म है, अज्ञानता है। कबीर कहते हैं कि पाण्डे तुम यदि पानी

भी पीते हो तो जाति का पता लगाकर पीते हो, किन्तु तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि जिस मिट्टी के घर में तुम बैठे हो, उसमें सम्पूर्ण सृष्टि समायी हुई है। अर्थात् ऊँच-नीच, पक्षी-जानवर, सभी मरने के पश्चात् इसी मिट्टी में मिल गये हैं। अब तुम्हीं बताओं छूत कहाँ है—

पांड़े बूझि पियहु तुम पानी।

जेहि मटिया के घर मां बैठे। तामे स्त्रिष्टि समानी॥

छप्पन कोटि जादौ जहं भीजै। मुनिजन, सहस अठासी॥

पैग पैग पैगम्बर गाड़े। सो सभ सरि भौ मांटी॥<sup>29</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन भारतीय समाज दिग्भ्रमित हो गया था। धर्म के नाम पर अनेकानेक दमघोटू, जकड़बन्दी मान्यताओं ने अपना अधिकार जमा लिया था, जिसका लोग चैतन्यहीन होकर अन्धानुकरण कर रहे थे। किन्तु सन्त कबीर ने अपने विद्रोही प्रकृति से जनमानस का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और समाज में व्याप्त इन निरर्थक एवं निराधार मान्यताओं के खोखलेपन को जनमानस के सम्मुख निःसंकोच भाव से प्रकट किया। कबीर ने न केवल इन मान्यताओं के खोखलेपन को प्रकट किया, बल्कि अपनी तार्किक बुद्धि एवं प्रतिभा के बल पर इन विकृत एवं अमानवीय मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न भी लगा दिया, जिसका जवाब किसी के पास नहीं था और न कभी होगा।

## 2. धार्मिक आस्था बनाम आध्यात्मिक चिन्तन

आस्था का शाब्दिक अर्थ है विश्वास। धार्मिक आस्था अर्थात् धर्म में विश्वास। सामान्यतः “धर्म का मूल आधार ही मान्यता और आस्था है।”<sup>30</sup> एडवर्ड टायलर के मतानुसार—“धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।”<sup>31</sup> अतः प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का धर्म के प्रति आस्थावान होना आवश्यक है। किन्तु व्यक्ति की यह आस्था धर्म के वास्तविक रूप

एवं उद्देश्य के प्रति होना चाहिए जो आध्यात्मिक चिन्तन पर बल देता है न कि धर्म के नाम पर समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार की रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति। “व्यवहार में धर्म के दो रूप हैं—नैतिक मान्यताएं और कर्मकांड।”<sup>32</sup>

नैतिक मान्यताओं पर आधारित धर्म मानव-मात्र के लिए आवश्यक है। ये मूल्य सभी धर्मों सम्प्रदायों और समाज संगठनों में समान रूप से विद्यमान होते हैं। तप, दान, दया, अहिंसा, प्रेम, निष्कपटता, परोपकार तथा समदृष्टि आदि धर्म के आवश्यक गुण होते हैं। इन गुणों से परिपूर्ण यह धर्म मानव को सदैव आध्यात्मिक चिन्तन की प्रेरणा देता है। जबकि कर्मकाण्डों पर आधारित धर्म, पूजा-पद्धतियों, तन्त्र-मन्त्र, यज्ञ, जाति-प्रथा तथा छुआछूत आदि विभिन्न प्रकार की सामाजिक विकृतियों को जन्म देता है। इनमें विकृतियाँ आने का एक साधारण सा कारण है, इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाना। कठोरता से पालन करवाने के पीछे पण्डित पुरोहितों का स्वार्थ छिपा होता है। कभी वह धर्म के नाम पर विभिन्न प्रकार का भय दिखा कर लोगों को लूटता है तो कभी समाज में अशान्ति फैलाकर शान्ति स्थापित करने के लिए यज्ञ, पूजा-पाठ आदि के बहाने साधारण जनता से अत्यधिक धन एकत्र करता है। इस प्रकार एकत्रित धन का वह स्वयं ही प्रयोग करता है। अतः धर्म के नाम पर धन एकत्र करना मानो स्वार्थी पण्डितों का काम हो गया है—

बिन प्रतीतैं पाती तोड़े, ग्याँन बिनाँ देवलि सिर फोड़ै।।

लुचरी, लपसी आप संधारै, द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै।<sup>33</sup>

किन्तु धर्म के प्रति अत्यधिक आस्थावान व्यक्ति को उनके षड़यन्त्र का एहसास भी नहीं होता है और वे समाज में प्रचलित तमाम रूढ़ियों, परम्पराओं तथा पण्डित-पुरोहितों के द्वारा कही हुई बातों का अन्धानुकरण करते रहते हैं। इसका अनुसरण न करने की बात तो दूर, उनके मन में कभी उचित-अनुचित का भी ध्यान नहीं आता। उनके लिए बस इतना



पर्याप्त है कि अमुक मान्यता धर्म से जुड़ी हुई है तथा प्राचीन काल से चलती चली आ रही है। तदोपरान्त वे उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यही धार्मिक आस्था है। धर्म से जुड़ी हुई यह आस्था संस्कार की दृष्टि से कुछ अंशों में हमारे लिए आवश्यक भी है। किन्तु इनका अनुसरण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए, कि ये वस्तु सहायक होती हैं, सार नहीं। इसे किसी पर भी बलपूर्वक थोपा नहीं जा सकता। अतः धार्मिक कठोरता सम्पूर्ण धर्म नहीं है बल्कि धर्म की सम्पूर्णता अध्यात्म-चिन्तन में निहित है, जिसके लिए आवश्यक है मनुष्य में भगवान के प्रति सच्ची आस्तिकता तथा सच्चा विश्वास, न कि धार्मिक रूढ़ियों एवं परम्पराओं का कठोरता से पालन या मठाधीश पुजारी एवं पुरोहितवाद का अन्धानुकरण।

इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द का लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनका मानना है कि धर्म को आध्यात्मिकता में परिवर्तित कर देना चाहिए। वे कहते हैं कि “कुछ लोगों ने हमें बताया है कि अत्यधिक धर्म ने भारत को तबाह किया है, केवल इसलिये क्योंकि हमने सम्पूर्ण जीवन को धार्मिक बना दिया या धर्म को सम्पूर्ण जीवन बना दिया, हम जीवन में असफल रहे हैं तथा अधोगति को प्राप्त हुये हैं।... परन्तु जो कारण दिया गया है, वह एक सही कारण नहीं है। यदि अधिकतर भारतीयों ने वास्तव में अपना सम्पूर्ण जीवन सही शब्दों में धर्म बना लिया होता तो हम वहाँ नहीं होते जहाँ हम अब हैं। यह इस कारण था क्योंकि उनका सामाजिक जीवन अत्यधिक अधर्मी, अहंकारयुक्त, स्व-तुष्टिपूर्ण व भौतिक बन गया था जिससे वे गिर गये। यह संभव है कि, एक तरफ हम अत्यधिक धार्मिक कृत्यों में बहुत अधिक भटक गये, मतलब यह कि, एक अत्यधिक बाह्यकरणीय रिवाजों, रीतियों, नित्यचर्या, यान्त्रिक, पूजापाठ का तथा दूसरी ओर एक अत्यधिक संसार को त्यागने वाले वैराग्य में जिसे सर्वश्रेष्ठ मनो को उन प्राचीन ऋषियों की भाँति समाज के आध्यात्मिक सहारे के तौर

पर तथा समाज के लिए आते जीवन दाता की भाँति खड़े रहने की जगह अपनी ओर खींच लिया तथा जो समाज के लिए सदा के लिए खो गये। परन्तु मामले की जड़ यह थी कि आध्यात्मिक भाव अपने सामान्य रूप में तथा विस्तृतता में क्षीण होता चला गया, बौद्धिक क्रियाशीलता तथा स्वतन्त्रता का हास हुआ, महान आदर्शों का घटना आरम्भ हो गया, व जीवन का जोश समाप्त हो गया।<sup>34</sup>

श्री अरविन्द जी का लेख इस ओर संकेत करता है कि भारतीय धर्म का हल वास्तविक अध्यात्म-चिन्तन में है। उनका मानना है कि मनुष्य के अत्यधिक धार्मिक होने में कोई बुराई नहीं है और न ही यह उसे अधोगति की ओर ले जाती है, बल्कि मनुष्य द्वारा धार्मिक क्षेत्र में अपनायी गयी अति कठोरता एवं रूढ़िवादिता उसे अधोगति की ओर ले जाने में सहायक बनती है। अतः मनुष्य को बाह्य क्रियाओं से बचना चाहिए तथा आध्यात्मिकता जो सदा से भारतीय मानस की सर्वोपरि कुंजी रही है, उसे प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। वास्तव में अध्यात्म किसे कहते हैं? इस सम्बन्ध में गीता में लिखा है कि—

“अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म मुच्यते”<sup>35</sup>

अर्थात् सबसे जो परम है और जो अक्षर अर्थात् जिसका क्षर नहीं होता— नाश नहीं होता उस तत्व को ब्रह्म कहते हैं एवं जो अपना स्वरूप (स्वभाव) अर्थात् जीवात्मा होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं। क्षर न होने वाले तत्व अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप (मूलभाव) को जानने का प्रयत्न आध्यात्मिक चिन्तन कहलाता है जिसके अन्तर्गत आत्मा—परमात्मा सम्बन्धी तथ्यों पर विचार किया जाता है। अतः आध्यात्मिक चिन्तन कोरा परमात्मा या ब्रह्म—ज्ञान चिन्तन नहीं है, बल्कि इसमें आत्म—ज्ञान भी सम्मिलित हो जाता है। सत्य तो यह है कि ब्रह्म—ज्ञान के लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है। आध्यात्मिक चिन्तन के सम्बन्ध में कबीर का व्यक्तिगत

अनुभव कुछ इस प्रकार उद्घाटित हुआ है—

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहू निज ब्रह्म विचार।

केवल कहि समसाइया, आत्म साधन सार रे।<sup>36</sup>

अर्थात् कबीर ने काव्य के उद्देश्य से गीतों की रचना कदापि नहीं की थी बल्कि आत्म-साधना के द्वारा ब्रह्म विचार करते-करते उनकी अभिव्यक्ति ही गीत बन गये हैं। अतः यहाँ पर इस बात की पुष्टि होती है कि आत्म-साधना के द्वारा ही ब्रह्म ज्ञान की उपलब्धि सम्भव होती है। यही कारण है कि सभी महात्माओं या महापुरुषों ने आध्यात्मिक चिन्तन के लिए आत्म-साक्षात्कार पर बल दिया है। आत्म-साक्षात्कार के लिए न केवल सन्त-महात्माओं ने अपनी स्वीकृति जतायी है, बल्कि साधारण लोगों के मुँह से भी प्रायः यह कहते हुए सुना जाता है कि—‘यह आत्मा की आवाज़ है’ या फिर ‘आत्मा की आवाज़ सदैव सत्य होती है’ आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा-परमात्मा में अभिन्नता का भाव अवश्य ही होता है।

जल मैं कुंभ है कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।

फूटा कुंभ जल जलहिं समानाँ, यह तत कथौ गियानी।<sup>37</sup>

इसी के समान घट-घट में प्रियतम की झांकी भी मिलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत के समस्त प्राणियों की अन्तर्मा में ही परमात्मा का निवास होता है। यही कारण है कि मध्यकालीन समाज जिस समय विभिन्न प्रकार के तन्त्र-मन्त्रों, पूजा-पद्धतियों तथा यज्ञादि कर्मकाण्डों में लिप्त था, उस समय कबीर ने इनका खण्डन कर उच्च स्वर में आत्म-चिन्तन का नारा बुलन्द किया—

कौन बिचारि करत हौ पूजा, आत्म राम अवर नहीं दूजा।<sup>38</sup>

अतः ‘आत्मा को चीन्हों तभी नर में नारायण’ का दर्शन पाने में सफल हो सकते हो—

आपा पर समि चीनियैं, तब मिलै आतमां राम ।।<sup>39</sup>

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म-ज्ञान के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है जिस में कर्मकाण्डों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए “कबीर के मुख से घोषित किया गया है कि परमात्मा एक और अमूर्त है। वह बाहरी कर्मकाण्ड के द्वारा अप्राप्य है, उसकी केवल प्रेमानुभूति हो सकती है, कर्मकाण्ड तो वस्तुतः परमात्मा को हमारी आँखों से छिपाने का काम करता है। सर्वत्र उसकी सत्ता व्याप रही है मनुष्य का हृदय ही उसका मंदिर है, अतएव बाहर न भटककर उसे वहीं ढूँढना चाहिए।”<sup>40</sup> अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए वही व्यक्ति इधर-उधर भटकता रहता है। जिनमें आत्म-ज्ञान का अभाव होता है। आत्म-ज्ञान के अभाव का कारण होता है अतिधार्मिकता जो रूढ़िवादिता को जन्म देती है। और मनुष्य इस रूढ़िवादी विचारों एवं परम्पराओं रूपी मकड़जाल में उलझकर आत्म-ज्ञान से वंचित रह जाता है। उपहासस्पद बात तो यह है कि अधिकांशतः मनुष्य स्वयं ही इस मकड़जाल से निकलना ही नहीं चाहता है। वह कठोरता से धार्मिक बाह्याचारों के पालन को ही धर्म की पूर्णता समझता है। आत्म-ज्ञान के अभाव में मिथ्याचारों का पालन करने वाले ऐसे लोगों पर कबीर ने जबरदस्त कटाक्ष किया है—

का नाँगे का बाँधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम राम ।।

नांगे फिरे जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई ।

मूँड़ मुड़ायै जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ।”<sup>41</sup>

तथा

क्या है तेरे न्हाई धाँई, आतम राम न चीन्हा सोई ।।

X X X

ज्यूं दादुर सुरसरी जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई ।।<sup>42</sup>

कबीर ने परमात्मा का निवास हृदय के भीतर ही माना है। वे कहते हैं कि—

ज्यों तिल मांही तेल है, चकमक मांही आग।

तेरा साईं तुझ में, जागि सकै तो जाग।<sup>43</sup>

तीर्थ के सन्दर्भ में देवराहा बाबा ने भी अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है—  
“वैराग्य और आध्यात्मिक चिन्तन के भावों से ही तीर्थों में रहने का महत्व है। अयोध्या और काशी तुम्हारे शरीर में ही हैं। जहाँ राम हैं, वहीं अयोध्या है, वहीं काशी है। हृदय में ही प्रभु का निवास है, सभी जीवों में प्रभु ही है। सर्वत्र परमेश्वर व्याप्त हैं। अतः तुम्हारे भीतर ही अयोध्या है, तुम्हारे भीतर ही काशी है, सभी धाम, सभी तीर्थ इस शरीररूपी देवमंदिर में ही हैं। अपने को बाहर से, संसार से समेटो और अपने अन्तर्जगत् में दृष्टि गड़ाओ तो सारे तीर्थों के दर्शन वहीं होगा।”<sup>44</sup> अतः वास्तविक यात्रा पैरों की नहीं है, बल्कि मन की है। जब मन इन्द्रियों से चलकर आत्मा तक पहुँच जाए तो मानो यात्रा सफल हो गयी, जिसके लिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् तीर्थों का चक्कर काटना व्यर्थ है। कबीर जी कहते हैं—

देव पूजि पूजि हिंदू मुये, तुरुक मुये हज जाई।

जटा बांधि बांधि जोगी मुये, कापड़ी के दारौ पाई।

X      X      X

जे नर जोग जुगति करि जाँनै, खोजै आप सरीरा।

तिनकूँ मुक्ति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा।<sup>45</sup>

अन्त में कबीर धार्मिक आस्था और आध्यात्मिक चिन्तन की भ्रमात्मक समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग दूँढै बन माँहि।

ऐसे घटि घटि रॉम हैं, दुनियाँ देखैं नाँहिं।<sup>46</sup>

अर्थात् जीव अपने आप में अन्तर्मुखी होकर ईश्वर की विद्यमानता का आभास नहीं करता और उसी प्रकार विभिन्न साधनाओं में भटकता रहता है जिस प्रकार मृग की नाभि में कस्तूरी होते हुए भी वह उसकी सुगन्ध से अभिभूत होकर उसे प्राप्त करने के लिए वन-वन में फिरता रहता है। अतः स्पष्ट है कि आनन्द स्वरूप भगवान् प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में ही निवास करते हैं। किन्तु अज्ञानतावश मनुष्य समाज में प्रचलित मिथ्याचारों में परमात्मा को खोजता रहता है और अन्त में उसे निराश होना पड़ता है, क्योंकि धर्म के प्रति अत्यधिक आस्थावान् व्यक्ति धर्म का अन्धानुकरण करते हैं अथवा धर्म के नाम पर समाज में प्रचलित मिथ्याचारों का पालन करते हैं, जबकि धर्म का मूल मिथ्याचारों का पालन नहीं है बल्कि आध्यात्मिक-चिन्तन में निहित है जिसमें न तो बाह्याचारों के लिए कोई स्थान है और न ही मन्दिर-मस्जिद आदि तीर्थ स्थानों पर जाने की आवश्यकता है—

मोको कहाँ ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में।

ना मैं देवल ना मैं मसजिद न काबे, कैलास में।<sup>47</sup>

इस प्रकार कबीर ने धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त बाह्याडम्बरों को कदापि स्वीकार नहीं किया है। प्रभाकर श्रोत्रिय लिखते हैं कि—“कबीर न तो चंद आक्रामक लौकिक उक्तियों के प्रवक्ता हैं, न आत्ममुक्ति की खोज में, किसी कंदरा में अलख जगाने वाले जोगी, जती या सन्यासी। एक ओर उनका अध्यात्म इस भीड़ भरी दुनिया से गुज़रता है और दूसरी ओर यह दुनिया उनके आध्यात्मिक आँवों से गुज़र कर नया जीवनार्थ पाती है।”<sup>48</sup>

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक आस्था धर्म की शुरुआत (इब्तिदा) है। जबकि आध्यात्मिक चिन्तन धर्म का अन्तिम (इन्तिहा) पड़ाव है। अतः यदि शुरुआत अच्छी हो तो मंज़िल तक पहुँचना आसान हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है

कि धार्मिक आस्था धर्म के वास्तविक रूप एवं उद्देश्य के प्रति होनी चाहिए तभी आध्यात्मिक चिन्तन पूर्ण हो सकता है। यही कारण है कि कबीर ने धर्म के वास्तविक रूप एवं उद्देश्य पर पर्दा डालने वाले मिथ्याचारों का विरोध किया है तथा आत्म-ज्ञान का उपदेश देकर ब्रह्म-ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया है।

### 3. धर्म का संस्थागत रूप और मानवीय सामाजिक अधिकार

धर्म का संस्थागत रूप, मानवीय सामाजिक अधिकारों को किस प्रकार प्रभावित करता है। इसका विवेचन करने से पूर्व संस्था और धार्मिक संस्था के विषय में अध्ययन आवश्यक है। संस्था जैसा कि सभी जानते हैं कि—“व्यापक अर्थ में साहचर्य की कोई भी एक प्रणाली संस्था कहला सकती है। परिवार, राज्य, भाषा, शिक्षा और धर्म आदि सभी को संस्था कहा जा सकता है, क्योंकि ये ऐसे संगठन हैं जिनका निर्माण मनुष्य की इच्छा अथवा चयन पर होता है।”<sup>49</sup> यह ढंगों या नियमों की एक व्यवस्था है। इससे जुड़े समस्त लोगों से यह उम्मीद की जाती है कि वह संस्था के नियमों का पालन करें। क्योंकि इसके पीछे नियमों, कार्य-प्रणालियों, व्यवस्थाओं आदि का जो ढाँचा होता है उससे ही संस्था की रक्षा की जाती है।

संस्था के विकास की प्रक्रिया के संदर्भ में प्रसिद्ध समाजशास्त्री समनर का मत है कि “संस्थाएँ जनरीति से प्रारम्भ होती हैं। ये जनरीतियाँ प्रथाएँ हो जाती हैं, प्रथाओं में कल्याण के तत्त्व-ज्ञान जुड़ जाने पर वे रूढ़ियों में विकसित हो जाती हैं। इसके बाद काम में लाए जाने वाले नियमों, निर्धारित कार्य-विधियों और साधनों के द्वारा ये रूढ़ियाँ और भी निश्चित और भी स्पष्ट कर दी जाती हैं। इससे एक ढाँचे का निर्माण होता है और संस्था पूर्ण हो जाती है।”<sup>50</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्था पूर्णतः समाज द्वारा स्वीकृत मतों एवं कार्य-प्रणालियों

पर आधारित होती हैं। यद्यपि इनका कोई ठोस आधार तथ्य नहीं होता फिर भी एक सीमा तक रूढ़ियों पर आधारित इन संस्थाओं का सामाजिक महत्व भी है। चूंकि इसके उद्देश्य में सामाजिक कल्याण का भाव छुपा होता है। अतएव यह मानव को सदैव उचित मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है। मैकाइवर के मतानुसार—“यह सांस्कृतिक तत्वों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती है, मनुष्य के व्यवहारों में एकता लाती है, उनके आचरणों को नियंत्रित करती हैं तथा परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य को निर्देशित करती है।”<sup>51</sup> यहाँ पर मैकाइवर ने संस्था की विशेषताओं का वर्णन करते हुए एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि— यह परिस्थितियों के अनुसार मनुष्यों को निर्देशित करती है। अतः स्पष्ट है कि संस्था के नियम परिवर्तनशील हैं। जो सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित किये जा सकते हैं। विशेषरूप से तब संस्था के नियमों को बदलना आवश्यक हो जाता है, जब वे मानवीय सामाजिक अधिकारों की रक्षा करने में असफल हो रहे हों।

सामान्यतः किसी भी संस्था का निर्माण मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताएँ असंख्य होती हैं, जिनकी पूर्ति मनमाने ढंग से नहीं की जा सकती। उसके लिए समाज द्वारा स्वीकृत नियमों या कार्य-प्रणालियों की आवश्यकता पड़ती है, जिसे संस्था कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, उसी प्रकार इन विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की संस्थाओं (सामाजिक संस्था, आर्थिक संस्था, धार्मिक संस्था) का भी निर्माण किया जाता है। धार्मिक संस्था इनमें से एक महत्वपूर्ण संस्था है। एन्डरसन ने कहा है कि—“धर्म एक नैतिक-आध्यात्मिक संस्था अथवा विचारों, उद्देश्यों और विश्वासों का एक संकुल (Complex) है, जो किसी अलौकिक शक्ति के प्रति अभिव्यक्त होता है।”<sup>52</sup> अतः मानव की धार्मिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली संस्था धार्मिक संस्था



कहलाती है। धार्मिक संस्थाओं का सम्बन्ध किसी-न-किसी अलौकिक शक्ति से होता है। ये संस्थाएँ विभिन्न प्रकार के विचारों, विश्वासों, नियमों एवं कार्यविधियों की एक व्यवस्था होती है।<sup>52</sup> इसे हम एक अखण्ड व्यवस्था कह सकते हैं जो सदैव से थी, है और रहेगी। किन्तु मध्ययुगीन समाज में इस व्यवस्था पर अधिक बल दिया गया। इस युग में—“मंदिर, मूर्ति, तीर्थ—स्थान, विभिन्न पर्व आदि भक्ति के केन्द्र बने हुए थे। संध्या, गायत्री, व्रत, तीर्थ—स्थान, छापा, तिलक, पूजा—अर्चना आदि धर्म के अन्यान्य कर्मकाण्डी विधान समाज में प्रचलित थे। संस्कार के रूप में जन्म से लेकर मृत्यु तक और उसके बाद श्राद्ध के रूप में अनेक विधान मौजूद थे। इन सबका सूत्र ब्राह्मण समुदाय के पण्डों—पुरोहितों के हाथ में था।”<sup>53</sup>

संस्था और धार्मिक संस्था के विवेचन के पश्चात् अब हम धर्म के संस्थागत रूप और मानवीय सामाजिक अधिकारों के अध्ययन बिन्दु पर पहुँचते हैं। निःसंदेह धर्म और समाज का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। नियमों एवं मान्यताओं पर आधारित एक संस्थागत रूप में धर्म का समाजशास्त्रीय महत्व अत्यधिक है। वह अपने नैतिक मान्यताओं के माध्यम से समाज को दृढ़ता प्रदान करता है, व्यक्ति को परिस्थिति के अनुसार निर्देशित एवं नियन्त्रित करता है, पाप और पुण्य का भय दिखाकर बुराई से अच्छाई की ओर ले जाता है। किन्तु ये विशेषताएँ धर्म के नैतिक मान्यताओं पर आधारित होती हैं। यह धर्म का दूसरा रूप है, कर्मकाण्ड जो पूजा—पाठ, यज्ञ आदि पर आधारित होता है। जिस प्रकार धर्म के नैतिक नियम समाज को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में प्रचलित कर्मकाण्ड भी सामाजिक जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते। जैसा कि मध्ययुगीन समाज में “धार्मिक क्षेत्र की कर्मकाण्ड बहुलता, सामाजिक क्षेत्र में वर्ण—व्यवस्था जन्य जाति—पांति, ऊँच—नीच, छुआछूत आदि की कट्टरता को बढ़ावा दे रही थी।... समाज का विशाल जन

समुदाय वर्ण एवं जाति के आधार पर सभी मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया था।<sup>54</sup> इसका एक बड़ा कारण यह है कि कभी-कभी धर्म से जुड़ी ये रूढ़ियाँ एवं प्रथाएँ कुछ अंशों में विशेष लोगों, समूहों तथा दूसरे के दबावों पर आधारित होती हैं। ऐसी स्थिति में ये सामाजिक हितवाद के भाव को खो देती हैं और कुछ विशेष लोगों के स्वार्थों को पूर्ण करती रहती हैं। इस संदर्भ में भारतीय समाज के प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का नाम सर्वोपरि है। यह “वर्णवाद रूढ़िवाद का ही पर्याय है और इससे सदैव शासक वर्ग की हित साधना होती है।”<sup>55</sup> इस युग में शासक पद पर ब्राह्मण वर्ग आसीन था। अतः इस व्यवस्था के अन्तर्गत केवल ब्राह्मण वर्ग का ही स्वार्थ सिद्ध हो रहा था। विशेष रूप से “शूद्र जो नीचतम वर्ण में थे, सभ्य समाज के सब अधिकारों से वंचित रह गये थे। वेद और धर्म शास्त्रों के अध्ययन का उन्हें अधिकार न था। उनमें से भी अन्त्यजों के लिए तो देव-दर्शन-के लिए मंदिर-प्रवेश भी निषिद्ध था।”<sup>56</sup> कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि शूद्रों के लिए अपने को ब्राह्मण शब्द से सम्बोधित करना भी अपराध था। उनकी छोटी-से-छोटी त्रुटियों के लिए कड़े से कड़े दण्ड का प्रावधान था। हिन्दू धर्म में तो यहाँ तक लिखा है कि— “अस्पृश्यों ने यदि कानों से वेद का श्रवण किया तो उनके कान में शीशे का पिघला रस डाला जाए, यदि जीभ से उच्चारण किया तो उनकी जीभ काट देनी चाहिए। ऐसा हिन्दू धर्म में लिखा है। शंवूक अस्पृश्य था इसलिए राम ने उसका वध किया।”<sup>57</sup> इस प्रकार धार्मिक संस्था के पुजारी बन बैठे ब्राह्मणों ने न केवल नीच जातियों को सामाजिक प्रताड़ना पहुँचायी, बल्कि उन्हें धर्म, शिक्षा आदि सभी अधिकारों से भी वंचित रखा।

इसीलिए स्वामी विवेकानन्द जो हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें भी इसके क्रूर अत्याचारों की भर्त्सना करनी पड़ी। वे कहते हैं कि—“पृथ्वी पर ऐसा कोई भी धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान इतने ऊँचे स्वर से मानवता की महिमा की घोषणा करता हो,

और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीच जाति वालों का गला इतनी क्रूरता से घोटता हो।<sup>58</sup> अतः धर्म के नाम पर सामान्य जनता को ठगना, उन्हें प्रताड़ित करना तथा अधिकारों से वंचित रखना मानों परम्परा सी बन गयी थी। पूर्व में वर्ण-व्यवस्था के, चलते ब्राह्मण वर्ग ने अपनी सामाजिक प्रभुसत्ता के बल पर सामान्य जनता के अधिकारों का शोषण किया। तत्पश्चात् सामन्तवादी शासकों ने भी इसका लाभ उठाया। इसका मुख्य कारण था शिक्षा का अभाव। “शिक्षा की दृष्टि से देश पिछड़ चुका था, फलतः पुरोहितों के जाल संस्कृत भाषा के द्वारा फैलते गये। पवित्र बनाने और शाप देने का हक पण्डितों ने ले लिया था, संस्कृत भाषा के अधकचरे प्रयोग के साथ। कहा जाता था कि चाहे भूखों मर जाओ, पर पण्डित को नाराज न करो। सामन्तों की स्वीकृत से समाज में मुल्ला, पण्डित और कर्मकाण्डियों की ऐसी धाक थी कि उनकी काली मंशाओं के बारे में उँगली उठाने का अधिकार किसी को नहीं था।<sup>59</sup> सत्य तो यह है कि उन्हें सांस लेने का भी अधिकार नहीं था। “फाँसी देना या जीते रहने देना सामन्तों की क्षणिक इच्छा पर निर्भर था।<sup>60</sup> इस प्रकार कबीरकालीन समाज में धर्म और धार्मिक संस्था के ठेकेदार पण्डित-पुरोहित के जाल में फंसी सामान्य जनता बुरी तरह तड़प रही थी। किन्तु वह अपनी तड़प की व्यथा ईश्वर को भी नहीं सुना सकती थी क्योंकि “गरीब का काल्पनिक सहारा ईश्वर भी बड़ी जातियों के हवाले था और छोटी जातियों के लिए दरवाजे बन्द।<sup>61</sup> किन्तु इन बन्द दरवाजों को खोलने की पहल मध्ययुगीन सन्त-कवियों ने की, जिसमें कबीर अग्रणी हैं। उन्होंने मध्ययुगीन समाज में प्रचलित समस्त बुराइयों का विरोध किया। अन्याय तथा अत्याचार के खिलाफ आवाज़ बुलन्द की तथा हाथ में मुराड़ा लेकर मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए समाज से लड़ने निकल पड़े। उन्होंने मानव-मानव में भेद करने वाले तथा मनुष्य को उनके अधिकारों से वंचित करने वाले समस्त तत्त्वों पर गिन-गिन कर

चोटें कीं। कबीर ने पुस्तकीय ज्ञान और उसको अर्जित कर समाज में उसका प्रचार-प्रसार करने वाले पण्डितों की जड़ता का अत्यन्त निर्ममता से उपहास किया है। “पुस्तकीय ज्ञान को वह भ्रम में डालने वाला ज्ञान मानते थे। इन्हीं पुस्तकों के सहारे पंडितों ने अबोध जनता को अनेक प्रकार के अन्धविश्वास और आचारों में फँसाकर अनन्त काल तक शोषण किया था।”<sup>62</sup> इसी कारण कबीर ने वेद-शास्त्रों की कड़ी निन्दा की है। वे लोक, वेद और कुल की मर्यादा तथा उनके अनुकूल किये जाने वाले बाह्याडम्बरों को मनुष्य के गले का बन्धन मानते हैं—

लोक लाज कुल की मर्यादा। यही गले की फाँसी।<sup>63</sup>

उनके अनुसार वेद आदि एक ऐसा बन्धन अथवा फाँसी का फन्दे है जो त्याग और ग्रहण दोनों ही मार्ग में ग्रहण (कैद करना, ग्रसना) बना हुआ था। यदि वे वेद शास्त्रों पर आधारित आचार-विचारों का त्याग करते हैं तो धर्म पर ग्रहण लगता है क्योंकि वेद-शास्त्रों का सीधा सम्बन्ध धर्म से है, तथा यदि वे इसका ग्रहण (धारण) करते हैं तो यह उनके अधिकारों को उसी प्रकार ग्रसने की भूमिका निभाता है जिस प्रकार नौ ग्रहों में से एक राहु ग्रह जो सूर्य और चन्द्र का ग्रसन (इसे ही सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण कहते हैं) करता है। किन्तु न्यायप्रिय एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के मालिक कबीर ने कभी भी कशमकश में पड़कर समझौते का मार्ग नहीं अपनाया, बल्कि तर्क और बुद्धि के बल पर सदैव सत्य और न्याय का रास्ता चुना है। कबीर के मतानुसार उन वेद शास्त्रों का क्या लाभ जो गले की फाँसी अर्थात् प्रगति में बाधक हों। वे कहते हैं कि उन लोगों को ही स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। जिनमें इन लोक वेद रूपी फन्दे को काटकर फेंक देने का साहस है—

कहै कबीर बिचारि। बहुरि नाहिं आवई।।

लोक लाज कुल मेटि। परमपद पावई।।<sup>64</sup>

इसी कारण कबीर ने वेदादि धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने के फेर में न पड़ने की जोरदार नसीहत की है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।<sup>65</sup>

तथा

पाँडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी ।।

वेद पुरान पढ़त अस पाँडे, खर चंदन जैसै भारा ।।

राम नाम तत समझत नाँहीं, अंति पड़ै मुखि छारा ।<sup>66</sup>

अतः राम की भक्ति के बिना कुछ भी सार्थक नहीं है। किन्तु अज्ञानतावश मनुष्य इधर-उधर भटकता रहता है और अन्त में उसे निराश होना पड़ता है। इसी कारण कबीर ने बार-बार बाह्याडम्बरों की भर्त्सना की है तथा भक्ति-साधना पर बल दिया है—

राम बिनां संसार धंध कुहेरा, सिरि प्रगट्या जम का फेरा ।।

X X X

जे नर जोग जुगति करि जाँनै, खोजै आप सरीरा ।

तिनकूँ मुकति का संसा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा ।<sup>67</sup>

कबीर ने सामाजिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों के लिए भक्ति का ही मार्ग चुना है क्योंकि जीव के पूर्ण ईश्वरोन्मुख होते ही आध्यात्मिक जगत् की एकात्म स्थिति उसके आचरण में अपने आप उतर जाती है। फिर उच्च और निम्न का भाव समाप्त हो जाता है। अतः धर्म की भावात्मक अभिव्यक्ति का नाम भक्ति है जो सदैव आचरण की शुद्धता पर बल देती है। शुद्ध आचरण युक्त व्यक्ति अथवा सच्चा साधक कभी-भी वर्ण, जाति, लिंग आदि के आधार पर मानव-मानव में भेद नहीं कर सकता। फिर धर्म के नाम पर भेद-भाव करना तथा मानव को उसके अधिकारों से वंचित रखना तो निराधार सिद्ध होता है। जो धर्म

मानव को उसके अधिकारों से वंचित करे वह धर्म नहीं बल्कि अधर्म कहलायेगा। इतनी धार्मिक बुराइयाँ करने के पश्चात् भी कबीर धर्म को बुरा नहीं बताते। कबीर के मतानुसार—

बेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जोनि बिचारै।<sup>68</sup>

अतः स्पष्ट है कि कोई भी धर्म बुरा नहीं होता बल्कि जब वह संस्था से संयुक्त होकर संस्थागत रूप धारण करता है और मठ तथा मठाधीश के अधीन हो जाता है तब उसमें अधार्मिकता के तत्त्व विकसित हो जाते हैं। इसी कारण कबीर ने लोगों के सामने धर्म के वास्तविक रूप को प्रस्तुत न करने वाले पंडित को झूठा बताया है—

पंडित बाद बदंते झूठा<sup>69</sup>

संक्षेप में कहा जा सकता है कि धार्मिक संस्थाओं तथा मानवीय अधिकारों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। धार्मिक संस्थाओं के नियम मानव के सामाजिक जीवन से जुड़े होने के कारण यह उस पर गहरा प्रभाव डालते हैं। धार्मिक संस्थाओं में सामाजिक कल्याण का भाव छुपा होता है। अतः ये संस्थाएं सदैव ही मानव व्यवहारों को नियन्त्रित एवं निर्देशित करती हैं। किन्तु कभी-कभी ये संस्थाएं ही धार्मिक मुखौटा पहन कर मानवीय सामाजिक अधिकारों का शोषण भी करती हैं। कबीर ने इन्हीं घृणित धार्मिक मान्यताओं के प्रति खिन्नता प्रकट की और इसी कारण वे पण्डित-मुल्ला द्वारा लिखी बातों हुई बातों को छोड़ कर आगे बढ़ गये हैं। उनका विश्वास था कि उन तत्वों को त्याग देना ही उचित है जो सामाजिक जीवन में बाधा उत्पन्न कर रहे हों। यह उनका व्यक्तिगत अनुभव है।

#### 4. निषेध एवं विकल्प

निषेध जैसा कि इस शब्द से ही पता चलता है कि किसी बात के लिए 'रोकना', 'मना करना' अथवा 'वर्जित' किया जाना ही निषेध है तथा विकल्प का अर्थ है—'उपाय' या 'समाधान'। धर्म से निषेध एवं विकल्प का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक धर्म में सदैव ही बुरे

कार्यों का निषेध होता है तथा उसका उपाय अच्छे कार्यों में संलग्न होना बताया जाता है। प्राचीन काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था पर आधारित हिन्दू धर्म में भी विभिन्न प्रकार के निषेधों की व्यवस्था की गयी है। जिनमें जाति पर आधारित सात निषेध अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं—

१. पंक्ति-निषेध: इस निषेध के द्वारा निर्धारित है कि किस-किस जाति के लोगों की पाँत में बैठ कर भोजन करना चाहिए, और किस की पाँत में नहीं।
२. पाक-निषेध: इस निषेध द्वारा निर्धारित है कि किस व्यक्ति द्वारा पकाया हुआ भोजन ग्रहण किया जा सकता है और किसका पकाया हुआ नहीं।
३. भोजन निषेध: इस निषेध द्वारा निर्धारित है कि भोजन करते समय किन संस्कारों का पालन करना चाहिए।
४. जल-निषेध: किसके हाथ का पानी पीना चाहिए और किसके हाथ का नहीं।
५. खाद्य-निषेध: इस निषेध के आधार पर विचार किया जाता है कि मनुष्य क्या खाए और क्या नहीं खाए।
६. हुक्का-पानी-निषेध: अर्थात्, किसका हुक्का पीना चाहिए, और किसके साथ बैठकर पीना चाहिए।
७. पात्र-निषेध: खाने-पीने या भोजन पकाने के किस प्रकार का बर्तन व्यवहार में लाना चाहिए।<sup>70</sup>

इन महत्वपूर्ण सात निषेधों के अतिरिक्त कुछ अन्य निषेध भी हैं, जो विशेष रूप से श्रेणीगत-विभाजन में निम्न स्थान प्राप्त शूद्रों के लिए निर्धारित किये गये थे। उदाहरणस्वरूप—

१. वेद का अध्ययन शूद्रों के लिए निषिद्ध था। न केवल अध्ययन बल्कि वे वेद मन्त्रों को सुनने तथा उच्चारण करने के लिए अधिकृत नहीं थे। कानों से वेद का श्रवण

करने पर उनके कानों में शीशे का पिघला रस डालने तथा जीभ से उच्चारण करने पर जीभ काट देने का प्रावधान था।

2. "शूद्रों के लिए मंदिर-प्रवेश निषेध था।... संत नामदेव को छीपी जातिका होने के कारण एक बार मंदिर से बाहर निकाल दिया गया था।"<sup>71</sup> निम्न जाति के लोग न तो मन्दिरों में जा सकते थे और न वे किसी भी प्रकार देव-दर्शन या पूजा-अर्चना ही कर सकते थे।
3. तपादि करना भी उनके लिए निषिद्ध था। पुरुषोत्तम रामचन्द्र द्वारा तपस्या करते हुए शम्बूक का वध इसलिए ही करवाया गया क्योंकि वह शूद्र जाति का था।
4. वे आवश्यकता से अधिक धन एकत्र नहीं कर सकते थे। यदि किसी शूद्र के पास धन होता भी था तो उस धन को ब्राह्मण को दे देना पड़ता था।
5. नगरों में उनका निवास भी प्रतिबन्धित था। उन्हें कुत्ते-बिल्लियों की भाँति नगरों से बाहर रखा जाता था।
6. क्रोध करना, जो एक प्रकार से मनुष्य का स्वाभाविक गुण भी है, उनके लिए निषिद्ध था। "यदि वह (शूद्र) क्रोधवश अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति पर थूकता है, तो राजा उसके दोनों होठ कटवा लेगा।"<sup>72</sup>

यद्यपि किसी भी धर्म में निषेध अथवा प्रतिबन्ध बुराई से अच्छाई की ओर ले जाने के लिए होता है किन्तु मध्यकालीन समाज में प्रतिबन्ध एवं निषेध के नाम पर निम्न जातियों को उनके अधिकारों से पूर्णतया वंचित कर दिया गया था और उनके सामने यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि यह उनके पिछले जन्म के बुरे कर्मों का फल है, क्योंकि—“यह माना जाता है कि जो प्राणी उच्चतर जाति में जन्म लेता है, उसने पिछले जन्म में अच्छे कर्म किए होंगे।”<sup>73</sup> इस प्रकार निम्न जाति में जन्म लेना निःसन्देह उनके बुरे कर्मों का फल है। अतः



इसका विकल्प यही है कि वह इसे अपना भाग्य समझकर स्वीकार कर लें और वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने की इच्छा रखें। किन्तु “कबीर के अनुसार सिद्धि और अन्ततः मुक्ति का हेतु वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं, वरन् राम की भक्ति है; इसी प्रकार आवागमन में फँसे रहने का कारण विहित कर्म से च्युत होना नहीं, वरन् राम की भक्ति की अवहेलना करना है।”<sup>74</sup> कबीर कहते हैं कि—

कहै कबीर सुनहु रे संतो, करि ल्यौ जे कछु करणौ ।

लख चौरासी जोनि फिरौगे, बिना राम की सरनौं ।<sup>75</sup>

कबीर ने यह स्पष्ट किया है कि वर्णाश्रम-धर्म के पालन से मुक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं बल्कि पुनर्जन्म का मूल कारण है राम की सेवा में हुई चूक। इसी कारण वे वर्णाश्रम-धर्म का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर लगाये गये प्रतिबन्ध अथवा निषेध वास्तविक धार्मिक निषेध नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्येक धर्म का मूल उद्देश्य सदैव ही मानव-कल्याण में निहित होता है। मानव में मानवोचित गुणों का विकास करना, उसे बुराई से अच्छाई की ओर ले जाना तथा उसके लिए समान रूप से सुख-समृद्धि की कामना करना ही इसका मुख्य ध्येय होता है। जबकि वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर निर्धारित धार्मिक निषेधों के द्वारा समाज में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत आदि बाह्याचारों को बढ़ावा मिला तथा शूद्र आदि निम्न जातियाँ अत्यधिक दयनीय स्थिति में पहुँच गयीं। इसीलिए नीर-क्षीर विवेकी कबीर ने इसका विरोध किया। वे जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत आदि कुत्सित भावनाओं को फैलाने वाले धर्म, वर्ण, जाति को ही वास्तविक निषेध मानते हैं। इसके लिए उन्होंने अन्धविश्वास में पड़े सामान्यजन को अपनी प्रखर वृद्धि के द्वारा जागृत किया। उन्हें इस बात का एहसास कराया उत्पत्ति की दृष्टि से कोई ऊँच अथवा नीच नहीं है बल्कि सब समान हैं—

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा ।

एक ही खाक घड़े सब भाँडे, एक ही सिरजनहारा ।।<sup>76</sup>

जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत आदि संकीर्ण विचारों वाले लोगों के प्रति कबीर अपना विद्रोह भाव व्यक्त करते हैं—

जौ पै करता बरण बिचारै, तौ जनमत तीनि डाँड़ि किन सारै ।।

उतपति ब्यंद कहाँ थैं आया, जो धरी अरु लागी माया ।

नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ।

जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बाँट है काहे न आया ।

जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया ।

कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि राम न होई ।।<sup>77</sup>

वीरेन्द्र मोहन कहते हैं कि “कबीर की यह प्रवृत्ति मात्र निषेधात्मक नहीं है, बल्कि उसका एक सकारात्मक पक्ष भी है वे विकल्प स्वरूप भक्ति का मार्ग प्रस्तुत करते हैं— निराकार ब्रह्म की भक्ति।”<sup>78</sup> इस मत का समर्थन अन्य विद्वानों ने भी किया है। प्रेमशंकर के मतानुसार “कबीर जुझारु कवि होने के कारण सामाजिक भ्रष्टाचार पर तीखा आक्रमण तो करते हैं पर उनकी दृष्टि केवल नकारात्मक नहीं है, वह विकल्प प्रस्तुत करने का सामर्थ्य भी रखते हैं। भोग, आडम्बर, जातिवाद, संशय में फँसे हुए मध्यकाल का संकेत, वह स्थान-स्थान पर करते हैं और अपना विक्षोभ व्यक्त करते हैं पर वह एक नए आध्यात्मिक समाज की कल्पना कर सकने की रचनात्मक दृष्टि भी रखते हैं और उनका मानव-मूल्यों पर आश्रित अध्यात्म पंथ इसी दिशा में एक प्रयत्न है।”<sup>79</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर हिन्दू धर्म में विद्यमान विभिन्न धार्मिक निषेध मानवीयता की दृष्टि से उचित नहीं थे। इसी कारण कबीर ने इसका घोर

विरोध किया। वर्ण के आधार पर निम्न जातियों के सामाजिक निर्योग्यता को कबीर ने धर्म का अवास्तविक रूप बताया। उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि भगवान को वर्ण-विचार करना होता तो वह मानव जन्म के साथ ही तीन रेखाएं खींच देता, जबकि ईश्वर ने सभी मनुष्यों की उत्पत्ति समान रूप से की है। अतः सभी समान हैं। इसी समानता के सिद्धान्त के आधार पर कबीर ने धर्म, वर्ण, जाति का निषेध किया तथा विकल्प स्वरूप धर्म के वास्तविक स्वरूप पर बल दिया। जाति-पाँति पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई के आधार पर भक्ति के मार्ग का निर्माण किया। उनका यह विश्वास था कि आध्यात्मिकता एक ऐसा सूत्र है जो एक स्वस्थ एवं समन्वयशील समाज के निर्माण में पूर्ण सक्षम है।

### 5. सामाजिक सन्दर्भों में मानवीय अस्मिता

अस्मिता का शाब्दिक अर्थ है—अहंकार, स्वाभिमान, गर्व अथवा अपनी सत्ता का बोध होना आदि। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार “अस्मिता शब्द की व्युत्पत्ति अस्मि + तल् + टाप् से हुई है। जिसका अर्थ है अहंकार।”<sup>80</sup> वृहत् हिन्दी कोश में भी ‘अस्मिता’ शब्द के लिए अहंता, अहंकार, अस्तित्व, विद्यमानता आदि अर्थ दिए गये हैं।<sup>81</sup> डॉ० सुरेन्द्रनाथ सिंह कहते हैं कि “अस्मिता’ का अर्थ है अहंता, विद्यमानता अथवा होने का भाव अर्थात् वस्तु के स्वरूप का सम्यक् संबोध कराने वाली तत्त्वमयता उसकी अस्मिता है”<sup>82</sup> इसी प्रकार डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त का मत अवलोकनीय है—“कोशगत अर्थ की दृष्टि से ‘अस्मिता’ शब्द अहंकार का वाचक है, किन्तु प्रयोग रूढ़ि ने इसे निजत्व का समानार्थी बना दिया है।... अस्मिता जनित गौरव का सम्बन्ध व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र किसी से भी हो सकता है। वस्तुतः अस्मिता, आस्था, गौरव और संकल्प का बोधक शब्द है।”<sup>83</sup> वहीं पर कुछ विद्वानों का मानना है कि “‘अस्मिता’ शब्द वस्तुतः ‘दर्शन’ और ‘गणितशास्त्र’ से संबंधित है। जर्मनी का प्रसिद्ध गणितज्ञ लीबनिज ने शंक्विमदजपजलश का सिद्धान्त दिया।

उन्होंने बताया कि प्रत्येक वस्तु का अपने साथ या अन्य वस्तुओं के साथ समानता का संबंध नहीं होता। सभी व्यक्ति समान शारीरिक संचरना से निर्मित होने पर भी पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व रखते हैं, और वही उनकी पहचान या अस्मिता होती है।<sup>84</sup> इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने 'अस्मिता' को विविध रूपों में रेखांकित किया है। इसके स्वरूप की विविधता को देखते हुए डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त लिखते हैं कि "अस्मिता को परिभाषित करना कठिन है, फिर भी 'मैं हूँ' से लेकर 'मैं किस लिए हूँ' तक की अंतर्यात्रा कई पड़ावों से होकर अन्ततः अस्मिता के गन्तव्य पर पहुँचकर ही पूरी होती है।"<sup>85</sup> संक्षेप में अस्मिता निजत्व का भाव है जिसमें व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा महत्वपूर्ण होती है। वह समूह का सदस्य नहीं होता बल्कि उसकी व्यक्तिगत पहचान होती है। इस प्रकार अस्मिता में अपने निजत्व की सार्थकता को समझना ही व्यक्ति का बुनियादी सरोकार होता है।

अतः अस्मिता शब्द का प्रयोग अस्तित्व सत्ता, वजूद या विद्यमानता के अर्थ में होता है। इस प्रकार मानवीय अस्मिता का अर्थ हुआ-वैयक्तिक अस्तित्व, व्यक्ति-विद्यमानता अथवा इंसानी वजूद। मानवीय अस्मिता या इंसानी वजूद मुख्यतः व्यक्ति की अनिवार्य स्वतन्त्रता एवं निजता के भाव में निहित है। इसके अभाव में मानव जीवन अस्तित्वहीन एवं अर्थहीन हो जाता है। इस सन्दर्भ में अस्तित्ववादी इतिहास में विशेष स्थान रखने वाले ज्यां पाल सार्त्र ने मानवीय अस्तित्व को महत्व प्रदान करते हुए उसका अर्थ निरूपण किया है। उनके अनुसार "मानव-अस्तित्व का अर्थ है- 'अस्तित्व की अनुभूति के साथ जीना।'<sup>86</sup> जिस के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। इसी कारण सार्त्र ने स्वतन्त्रता को मानवीय अस्तित्व का अभिन्न अंग बताया है। क्योंकि "मानव की स्वतन्त्रता और उसकी सत्ता एक ही है-स्वतन्त्रता मानव सत्ता की अनिवार्यता है।"<sup>87</sup> यदि मनुष्य से उसकी स्वतन्त्रता को अपहृत कर लिया जाए तो उसकी सत्ता उसी प्रकार समाप्त हो जायेगी जिस प्रकार स्वतन्त्र

रूप से आकाश में उड़ते हुए पक्षी की सत्ता पिंजरे में बन्द होते ही समाप्त हो जाती है क्योंकि पक्षी का अस्तित्व आकाश में उड़ने में है न कि पिंजरे में कैद रहने में। कहने का तात्पर्य यह है कि अस्तित्व की रक्षा के लिए स्वतन्त्रता अति आवश्यक है। मनुष्य भी एक चिन्तनशील सामाजिक प्राणी है तथा उसकी समाज में अपनी प्रतिष्ठा तथा अपना अस्तित्व है जो जन्म से ही प्राप्त है। उसका जन्म इसी समाज में ही होता है तथा वह यहीं पलता-बड़ा होता है साथ ही अपनी बुद्धि एवं विवेक के बल पर अपने व्यक्तित्व का विकास भी करता है। किन्तु यदि उसके सोचने-समझने या कार्य करने के तरीकों पर बन्दिशें लगा दी जाएं तो उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। परिणामस्वरूप चिन्तनशीलता तथा विकासशीलता जो उसके अस्तित्व की पहचान है, समाप्त हो जायेगी।

अतः सामाजिक सन्दर्भों में मानवीय अस्मिता का अर्थ है—मनुष्य द्वारा निर्मित इस समाज में प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का अवसर मिलना, किन्तु मध्यकालीन समाज वर्ण-विभाजित समाज था जिसके चलते मनुष्य धर्म, वर्ण, जाति आदि के दृढ़ पाश में आबद्ध था। अर्थात् वह अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्र नहीं था। विशेष रूप से शूद्रादि जातियाँ जो अपनी मानवोचित अस्मिता से पूर्णतः वंचित थीं। ऐतरेव ब्राह्मण में कहा गया है कि—“शूद्र दूसरों से अनुशासित होता है, वह किसी की आज्ञा पर उठता है और कभी भी पीटा जा सकता है। मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्र अपने स्वामी द्वारा छोड़े गये पुराने वस्त्र, छाता, चप्पलें, चटाईयाँ आदि प्रयोग में लाता था, स्वामी द्वारा छोड़ा गया झूठा भोजन करता था।”<sup>88</sup> इस प्रकार समाज में निम्न जातियों का कोई अस्तित्व नहीं था। उन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। वे नगर में रहने के भी अधिकारी नहीं थे और न ही उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। यहाँ तक की उसके समीप भी वेदाध्ययन का निषेध था इसके अतिरिक्त “यदि

शूद्र जानबूझकर वेद का पाठ स्मरण करने के लिए सुने तो स्मृतियों का आदेश था कि उसके कानों में लाख और सीसा भर देना चाहिए। शूद्रों के लिए कड़े दंड का विधान था। किसी ब्राह्मण की भर्त्सना और गाली गलोच करने पर शूद्र को शारीरिक दंड दिया जाता था या उसकी जीभ काट ली जाती थी।<sup>89</sup>

इस प्रकार एक ओर निम्न जाति के लोगों को वेद पढ़ने और धार्मिक अनुष्ठानों के अधिकार से वंचित रखा गया था, तो दूसरी ओर उन्हें विभिन्न प्रकार से शरीरिक एवं मानसिक पीड़ा भी पहुँचायी जाती थी। अतः वर्ण-व्यवस्था जो पूर्व में सामाजिक संगठन और उनमें समतोल पैदा करने के उद्देश्य से बनाया गया था वही समाज के लिए घातक सिद्ध हुआ। उच्च जातियों को प्रभुता प्राप्त हो गयी और निम्न जातियाँ अपने मानवीय अधिकारों से भी वंचित कर दी गयीं, जिसके कारण उन्हें समाज में आदर एवं सम्मान नहीं दिया जाता था। वे अस्तित्वहीन जीवन व्यतीत करने लिए अभिशप्त थीं। मानवीय अस्मिता की अनुभूति, मनुष्य को जीने की प्रेरणादायक शक्ति प्रदान करता है, उसके अभाव में जी रही ये जातियाँ स्वयं को अत्यन्त दीन-हीन एवं असहाय महसूस कर रही थीं। धीरे-धीरे उनमें जीने की इच्छा भी समाप्त हो रही थी—

इब न रहूँ माटी के घर मैं।

इब मैं जाई रहूँ मिलि हरि मैं।<sup>90</sup>

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि मानवीय अस्मिता की अनुभूति ही जिजीविषा का हेतु है। अतः ऊँचा-नीच, भेद-भाव, अन्याय, हिंसा, शोषण आदि उन तमाम तत्वों को नष्ट कर देना आवश्यक था जो मानवीय अस्मिता पर कुठाराघात कर रहे थे। मध्ययुगीन सन्तों ने इसके लिए प्रयास किया। इनमें कबीर, नानक, दादू आदि प्रमुख हैं। इन “संतों की दृष्टि में सभी को संसार में जीवित रहने का अधिकार है। इसी को ईश्वर द्वारा दिया गया

‘परमपद’ कहते हैं। इस पद को प्राप्त कर लेने के पश्चात् विश्व-बन्धुत्व की भावना की प्रतिष्ठा होती है, और मनुष्य-मनुष्य के बीच का अन्तर समाप्त हो जाता है। यही भावना सम्पूर्ण विश्व को भावनात्मक एकता के सूत्र में अनुबद्धित करके चलती है, इसमें भाषा, जाति, सम्प्रदाय, देश आदि के दायरे टूट जाते हैं, यही मानव की मानवता है।<sup>91</sup> यही मानवीय अस्मिता की सुरक्षा का द्वार है, जिसका निर्माण सन्त-साहित्य में हुआ। रामविलास शर्मा कहते हैं कि—“संत साहित्य में मानव मात्र की समानता की भावना एक मूल सूत्र की तरह विद्यमान है।...संत साहित्य, शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच-नीच का भेद न हो, जिसमें सताने वाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हों, समाज व्यवस्था का आधार प्रेम हो।”<sup>92</sup> इस प्रकार सन्तों ने अपने साहित्य के माध्यम से सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए निष्कण्टक जीवन की कामना की है। उनकी दृष्टि में साहित्य वही है, जो मानवता के विकास में सहायक सिद्ध हो। हरिहर प्रसाद गुप्त कहते हैं कि—“पण्डित-मौलवी होने से बढ़कर मनुष्य होना है, यह कबीर की मान्यता थी।”<sup>93</sup> अतः कबीरादि सन्तों ने ‘साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है’ के भाव को प्रकट किया है।

मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए कबीर ने पूर्ण प्रयत्न किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य मानव और मानवीय अस्मिता की खोज का काव्य है। वे समाज के अच्छे पारखी थे। उन्होंने सामाजिक जटिलता शोषण की पराकाष्ठा तथा भेद-भाव की तीव्रता को सूक्ष्मता से अनुभव किया था। इस अनुभव को ही उन्होंने अपनी वाणी प्रदान की। सामाजिक सन्दर्भों में मानवीय अस्मिता को प्रतिष्ठित करने के लिए आवाज़ उठायी, धार्मिक अधिकारों की मांग की तथा समानता, स्वतन्त्रता एवं विश्व-बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया। उन्होंने नवीनतम एवं उत्कृष्ट विचार सम्पदा द्वारा सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन के भाव को भी स्पष्ट

किया। उन्होंने “जिन वैदिक और सैद्धान्तिक मान्यताओं को हटाने का प्रयत्न किया, वे मुख्यतः ब्राह्मणों, उच्च वर्ण और कुलीन लोगों द्वारा स्थापित की गई थीं। वेद शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन करने का अधिकार इन्हीं को था। समाज की सामान्य जनता जाहिल, गंवार, अपवित्र और दुष्ट समझी जाती थी। वेद-पाठ और यज्ञ आदि उनके लिए वर्जित था।”<sup>94</sup> यह मानवीय अस्मिता के विरुद्ध था। अतः कबीर ने इन अवरोधों को हटाने का वीड़ा उठाया। इसके लिए उन्होंने कभी मानवीय अस्मिता को आघात पहुंचाने वाले वेदादि को गले की फाँसी कहकर धार्मिक रूढ़ियों पर सीधा प्रहार किया तो कभी धर्म के नाम पर समाज में ऊँच-नीच छूआछूत आदि का भाव पैदा करनेवाले पंडित एवं मुल्ला को फटकार लगायी तो कभी उपदेशात्मक शैली का प्रयोग कर समाज सुधार का प्रयत्न किया।

कबीर ने मानवीय-अस्मिता के मार्ग में बाधक ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार किया, जिसने समाज में उच्चता एवं निम्नता का भाव पैदा करके निम्न जातियों को सभी अधिकारों से वंचित कर उनकी अस्मिता को अत्यधिक चोट पहुंचायी थी। कबीर ने ऊँचे कुल क्या जनमिया कहकर उच्च कुल एवं जाति की महत्ता को अस्वीकार कर दिया तथा समस्त प्राणी में ब्रह्मवास के सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की।

जब सभी का जन्म एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति से हुआ है फिर कोई ब्राह्मण या शूद्र कैसे हो सकता है। यह कहकर समाज का ध्यान मौलिक एकता एवं समानता की ओर आकर्षित किया तथा उच्च जाति का प्रदर्शन करने वाले ब्राह्मणों पर कटु कटाक्ष किया—

जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन बाँट है काहे न आया।<sup>95</sup>

कबीर धर्म के नाम पर फैली रूढ़िवादिता का विरोध करते हैं उनका मानना था कि समाज को खोखला बनाने वाला धर्म वास्तविक धर्म नहीं हो सकता तथा ऐसे धर्म का पालन करने वाला मनुष्य पशु के समान है, वह नाना भ्रमों में भटकता रहेगा—



जब लग ऊँच नीच करि जाँनाँ, ते पसुवा भूले भ्रम नाँनाँ ।<sup>96</sup>

अतः इस भ्रम को दूर करने के लिए तथा ऊँच—नीच की खाई को पाटने के लिए कबीर सदैव प्रयत्नशील रहे। उन्होंने इस बात को बार—बार दोहराया है कि :

नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ।<sup>97</sup>

इस प्रकार कबीर ने एक ओर मानवीय अस्मिता को हानि पहुँचाने वाली वर्ण—व्यवस्था का विरोध किया तथा दूसरी ओर मानवीय अस्मिता के महत्व को स्थापित करने के लिए उपेदशात्मक शैली द्वारा लोगों को समझाने का प्रयत्न किया है कि किसी दीन—हीन व्यक्ति को भी नगण्य अथवा अपने कमतर नहीं समझा चाहिए—

कबीर घास न नींदिये, जो पाऊँ तलि होइ ।

उड़ि पड़ै जब आँखि में, खरा दुहेली होइ ।<sup>98</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर कालीन समाज प्रत्येक दृष्टि से अव्यवस्थित था। विशेष रूप से धर्म के क्षेत्र में। धर्म के नाम पर अधर्म, अन्याय शोषण हिंसा आम बात थी। वर्ण—विभाजित समाज के चलते ब्राह्मणों को समाज में वर्चस्व प्राप्त था जिसका लाभ उठाकर उन्होंने निम्न जाति एवं वर्ण के लोगों को अपना गुलाम बना लिया था। वर्ण—व्यवस्था के अनुसार उनसे सेवा कार्य लिया जाता था तथा उन्हें जाहिल गंवार एवं अपवित्र समझा जाता था जो मानवीय अस्मिता को तार—तार कर देने वाली अमानवीय कृत थी। अतः कबीर ने इन ब्राह्मणवादी धार्मिक, सिद्धान्तों और सामाजिक अवरोधों को हटाने का प्रयत्न किया। उन्होंने धार्मिक, पाखण्ड तथा जड़ शास्त्रीय मान्यताओं का कड़ा विरोध किया। अतः कबीर जी मानवता के पुजारी थे एवं उनकी वैचारिकता मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापक थी तथा वाणी मानवीय मूल्यों की रक्षक।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीरकालीन समाज में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था।

धर्म के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को आचरण करना होता था। धर्म के अनुसार आचरण करने से तात्पर्य है वर्ण-व्यवस्था के अनुसार आचरण करना हिन्दू धर्म शास्त्रों में परम्परागत रूप से चली आ रही इस (वर्ण-व्यवस्था) व्यवस्था के पालन को ही सदाचार बताया गया है। इसलिए सदियों से लोग इस व्यवस्था का पालन करते हुए चले आ रहे थे। किन्तु मानवीय अधिकारों के रक्षक कबीर ने इस धार्मिक व्यवस्था के परम्परागत रूप पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। उनका विचार का था कि जो धर्म व्यक्ति को उसके अधिकारों से वंचित करता हो तथा मानव-मानव के बीच विभाजक रेखा खींचने वाला हो वह धर्म कैसे हो सकता है जबकि ईश्वर ने सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति एक समान की है। कबीर को यह अमानवीय व्यवहार किसी भी रूप में स्वीकार नहीं था। इसी कारण उन्होंने धार्मिक आस्था से जुड़ी हुई उन समस्त रूढ़ियों, परम्पराओं एवं मिथ्या आडम्बरों का विरोध किया, जो मानवीय सामाजिक अधिकारों के मार्ग में बाधक थे। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक आस्था की रूढ़ियों को अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सवालियों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया, जिसका जवाब किसी के पास नहीं था। कबीर कर्मकाण्ड एवं बाह्यचारों में विश्वास रखने वालों से प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि सिर के बाल मुड़ाने से मुक्ति मिलती है तो सर्वप्रथम भेड़ों को मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी प्रकार बहुत से योगी-सन्यासी मुक्ति की इच्छा से जंगलों में नंगे रहते हैं। यदि मुक्ति का सम्बन्ध नग्न रहने से है तो वन में नंगे विचरण करने वाले मृगों को सबसे पहले मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी प्रकार मुक्ति का सम्बन्ध यदि गंगा स्नान से है तो इसके अधिकारी मेढक होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि ये सभी बातें धर्म की वास्तविक बातें नहीं हैं। वास्तविक धर्म आध्यात्मिक चिन्तन में निहित है और आध्यात्मिक चिन्तन का सम्बन्ध रूढ़ियों, परम्पराओं एवं पण्डित-मुल्ला द्वारा कही गयी बातों का अन्धानुकरण करने से नहीं है, बल्कि आत्म-साधना द्वारा ब्रह्म-विचार से है।

इसी से ब्रह्म-ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि आत्मा को चीहों। ब्रह्म-ज्ञान के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है, जिसमें कर्मकाण्डों के लिए कोई स्थान नहीं है। जबकि कबीरकालीन समाज में धर्म पर आधारित कर्मकाण्डों की बहुलता थी। जिससे वर्ण-व्यवस्था जन्य जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत को भी अत्यधिक बढ़ावा मिला। ऊँच-नीच, छुआछूत आदि संकीर्ण भावनाओं के कारण तथाकथित निम्न जातियों का जीना मुश्किल हो गया था। उन्हें उनके समस्त अधिकारों से वंचित कर नगर से बाहर रखा जाता था। उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था जो एक धार्मिक संस्था भी है। वह अपने संस्थागत रूप में उपयोगी साबित नहीं हुई। धार्मिक संस्थाओं में सदैव सामाजिक कल्याण का भाव छुपा रहता है। जबकि वर्ण-व्यवस्था ने उच्च जातियों को विशेषाधिकार प्रदान कर निम्न जातियों को सदैव के लिए दलित, उत्पीड़ित एवं शोषित बना दिया था। किन्तु कबीर इन दलित, उत्पीड़ित एवं शोषित जातियों की आवाज़ बनकर समाज के सामने आये और चीख-चीखकर उच्च जातियों से प्रश्न किया कि तुम दोनों (ब्राह्मण-शूद्र) के धमनियों में रक्त की ही धारा प्रवाहित हो रही है फिर ब्राह्मण-शूद्र का भेद-भाव कैसे सम्भव है? यदि स्वयं को उच्च जाति का बताते हो तो तुमने उसी द्वार से क्यों जन्म लिया जिस द्वार से शूद्र जन्में हैं, तुम्हें तो किसी अन्य द्वार से पैदा होना चाहिए था। कबीर ने ऐसे ही तिलमिलाने वाले सवालों के माध्यम से सच्चाई बयान की तथा धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर स्थापित श्रेष्ठता को नकारते हुए मानवीय अस्मिता की रक्षा की।

सन्दर्भ :

1. डॉ० अजब सिंह—चेतना, शिक्षा एवं संस्कृति, प्रथम संस्करण—1997 ई०, पृ० 37, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी— 221001
2. विश्वप्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता—राजा राममोहन राय : व्यक्ति और विचार, प्रथम संस्करण 1996, पृ० 72, राधा पब्लिकेशन्स 4378/4—बी, अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली— 110002
3. श्री राजवीर शास्त्री (संपा०)— मनुस्मृति, पृ० 110, खारी बावली, दिल्ली—111006
4. डॉ० रवीन्द्रकुमार सिंह—संत—काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, प्रथम संस्करण—1994, पृ० 27, वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नयी दिल्ली—110002
5. वही, पृ० 27
6. जे०एस० मेकेन्जी— समाज दर्शन की रूपरेखा, पहला संस्करण— 1962, पुनर्प्रवृत्ति—1987, पृ०—40, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 1—बी०, नेताजी सुभाष मार्ग नयी दिल्ली—110002
7. डॉ० रवीन्द्र कुमार सिंह—संत—काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, प्रथम संस्करण—1994, पृ० 83, वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नयी दिल्ली—110002
8. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अगस्त—1963, पृ० 79—80, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
9. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, सं० 2055वि०, पृ० 34, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सद्गुरु कबीर मंदिर सी० 23/5 कबीर चौरामठ, वाराणसी— 221001
10. वही, पृ० 34
11. वही, पृ० 45
12. वही, पृ० 45
13. पंडित रामचन्द्र (संपा०)—भार्गव आदर्श भार्गव हिन्दी कोश, पृ० 639, भार्गव बुक डिपो चौक, वाराणसी
14. डॉ० ओम प्रकाश वर्मा—समकालीन भारतीय समाज की सामाजिक गतिशीलता, संस्करण—1990, पृ० 42, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर—208012
15. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर रचनावली, बारहवाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 208, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
16. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 99, नागरीप्रचारिणी

- सभा, वाराणसी
17. वही, पृ० 156
  18. वही, पृ० 34
  19. वही, पृ० 34
  20. डॉ० ओ०पी० शर्मा— भारतीय सामाजिक समस्याएँ, संस्करण— 2004ई०, पृ० 72 विकास प्रकाशन 311 सी० विश्वबैंक, बर्मा कानपुर— 208027
  21. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर रचनावली, बारहवाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 102, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  22. डॉ० श्यामसुन्दरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 79, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
  23. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं० 2055 वि०, पृ० 1183, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5, कबीरचौरा मठ, वाराणसी
  24. डॉ० श्यामसुन्दरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 37, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
  25. विश्वप्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता—राजा राममोहन राय : व्यक्ति और विचार, प्रथम संस्करण—1996, पृ० 88, राधा पब्लिकेशन्स 4378/4—बी, अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली— 110002
  26. आर०के० अग्रवाल—समाजशास्त्र गाइड, प्रकाशन वर्ष—1993, पृ० 193, प्रकाशन केन्द्र रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226027
  27. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थवाल— हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण—1995, पृ० 47, तक्षशिला प्रकाशन 2347/62 अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली—110002
  28. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं० 2055 वि०, पृ० 438, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5, कबीरचौरा मठ, वाराणसी
  29. वही, पृ० 45
  30. सत्य मित्र दुबे— समाजशास्त्र एक परिचय, प्रथम संस्करण—1989, पृ० 194, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली
  31. डॉ० संजीव महाजन—भारतीय समाज, प्रथम संस्करण 2004, पृ० 27, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4831/24, प्रहलाद गली, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली— 110002

32. विश्वप्रकाश गुप्त, मोहिनी गुप्ता—राजा राममोहन राय : व्यक्ति और विचार, प्रथम संस्करण—1996, पृ० 84, राधा पब्लिकेशन्स 4378/4—बी, अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली— 110002
33. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 100, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
34. किट्टू रेड्डी— भारत का इतिहास: एक नवीन दृष्टिकोण, प्रकाशन वर्ष—2008, पृ० 391—92, कल्पज पब्लिकेशन्स, सी—30, सत्यवती नगर, दिल्ली
35. पं० श्री ज्वाला प्रसाद मिश्र (संशोधनकर्ता)—श्रीमद्भगवद्गीता (8/3), पुनर्मुद्रित—2001 ई०, पृ० 205, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी
36. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 70, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
37. वही, पृ० 80
38. वही, पृ० 100
39. वही, पृ० 142
40. स्व०डॉ० पीताम्बरदत्त बड़वाल— हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण—1995, पृ० 60, तक्षशिला प्रकाशन 23/4762 अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली— 110002
41. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 99, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
42. वही, पृ० 154
43. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं० 2055 वि०, पृ० 1167, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र श्री सद्गुरु कबीर मंदिर सी० 23/5 कबीरचौरा मठ वाराणसी—221001
44. डॉ० अजब सिंह—चेतना, शिक्षा एवं संस्कृति, प्रथम संस्करण— 1997ई०, पृ० 68, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी—221001
45. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 146, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
46. वही, पृ० 64
47. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संग्रहकर्ता)—कबीर रचनावली, बारहवाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 180, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

48. प्रभाकर श्रोत्रिय-कबीरदास विविध आयाम, प्रथम संस्करण-2002, पृ० 7, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता-700017
49. जे०एस० मेकेन्जी-समाज दर्शन की रूपरेखा, पहला संस्करण-1962, पुनर्प्रवृत्ति-1987, पृ०-55, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 1-बी०, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002
50. देवेन्द्रपाल सिंह 'तोमर'-समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्त, प्रथम संस्करण-2006, पृ० 214, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।
51. वही, पृ० 216
52. डा० कृष्णा निगम-समाज शास्त्र के मूल तत्व, प्रथम संस्करण-1987, पृ० 411, देवर्षि प्रकाशन प्रा०लिमि०, एम-3/1, शास्त्री नगर, वाराणसी
53. प्रदीप सक्सेना-नवजागरण इतिहास और चेतना, पृ० 168, 'पहल', 101, रामनगर, आधारतल, जबलपुर-482004
54. वही, पृ० 168
55. कुँवरपाल सिंह (संपा०)-भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति, संस्करण-1995, पृ० 6 (भूमिका-VI), वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
56. स्व०डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थवाल- हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण 1995, पृ० 47, तक्षशिला प्रकाशन, 23/4762 अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002
57. शंभुनाथ (संपा०)-सामाजिक क्रांति के दस्तावेज भाग-2, प्रथम संस्करण 2004, पृ० 883, वाणी प्रकाशन 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
58. त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी (संपा०)-साहित्य अमृत पत्रिका, अगस्त-2008, पृ० 74, स्वत्वाधिकारी श्यामसुंदर दास, आसफअली रोड, नई दिल्ली
59. कमला प्रसाद-मध्यकालीन रचना और मूल्य, प्रथम संस्करण-1994, पृ० 21, वाणी प्रकाशन, 61-एफ, कमलानगर, दिल्ली
60. वही, पृ० 21
61. वही, पृ० 21
62. विजयेन्द्र स्नातक-कबीर, प्रथम संस्करण-1965, 6वीं आवृत्ति-1993, पृ० 138, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा० लिमि०, 2/38, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
63. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)-महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं० 2055 वि०, पृ० 726,

कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र श्री सद्गुरु कबीर मंदिर सी0 23/5 कबीरचौरा मठ, वाराणसी-221001

64. वही, पृ0 282
65. डॉ0 श्यामसुंदरदास (संपा0)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं0 2061, पृ0 30, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
66. वही, पृ0 78
67. वही, पृ0 146
68. वही, पृ0 84
69. वही, पृ0 79
70. डॉ0 नर्मदेश्वर प्रसाद—मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था, प्रथम संस्करण—1973, पृ0 151–52, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, कदम कुआँ, पटना—3
71. डा0 बलदेव वंशी—कबीर की चिंता, प्रथम संस्करण—2002, पृ0 23, वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
72. डॉ0 नर्मदेश्वर प्रसाद—मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था, प्रथम संस्करण—1973, पृ0 166, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, कदम कुआँ, पटना—3
73. विलियम ह्यायर—कबीर की भक्ति साधना, प्रथम संस्करण—1995, पृ0 99, जय भारती प्रकाशन, लालजी मार्केट, माया प्रेस रोड, 258/365 मुट्ठीगंज, इलाहाबाद—3
74. वही, पृ0 100
75. डॉ0 श्यामसुंदरदास (संपा0)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं0 2061, पृ0 127, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
76. वही, पृ0 82
77. वही, पृ0 79
78. वीरेन्द्र मोहन—कबीर और जायसी : मानव मूल्य, प्रथम संस्करण—1984, पृ0 25–26, कमला नगर, दिल्ली
79. वही, पृ0 45
80. वामन शिवराम आप्टे—संस्कृत हिन्दी—शब्द कोश, नवीन एवं संशोधित संस्करण, पृ0 146, रायल बुक डिपो, पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1529 प्रथम तल महावीर मार्केट नई सड़क, दिल्ली—110006
81. कालिका प्रसाद, राजबल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव (संपा0)—वृहत् हिन्दी कोश, सप्तम्



- परिवर्धित संस्करण-1992, पृ० 110, ज्ञानमण्डल लिमि०, विक्रम भवन, वाराणसी-221005
82. डॉ० दर्शन पाण्डेय-नारी अस्मिता की परख ('माधवी' और 'कोमल गंधार' के संदर्भ में), प्रथम संस्करण 2004 पृ० 1, सोमनाथ ढल संजय प्रकाशन- 4378/4-बी, 209 जे०एम०डी० हाउस, मुरारी मुरारी लाल अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2
83. वही, पृ० 1-2
84. वही, पृ० 2
85. वही पृ० 2
86. सुरेन्द्र बारलिंगे- (संपा०) परामर्श, सितंबर-नवंबर-2001, पृ० 53, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पुणे
87. वही, पृ० 58
88. विनोद कुमार तनेजा-(संपा०) प्राधिकृत- 1999-2000, पृ० 58, हिन्दी विभाग गुरुनानक देव युनिवर्सिटी अमृतसर-143005
89. वही, पृ० 58
90. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 135, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
91. डॉ० मुहम्मद अहसन- निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद (15-17वीं शताब्दी), प्रथम संस्करण-जून 1984, पृ० 82, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़
92. वही, पृ० 83
93. हरिहर प्रसाद गुप्त (भाष्यकार)-कबीर ग्रंथावली, भाग-1, साखी, प्रथम संस्करण 1992, पृ० 12, भाषा साहित्य संस्थान, इलाहाबाद
94. कुँवरपाल सिंह-अभिनव भारती, संयुक्तांक-1991-93, 92-93, पृ० 38, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
95. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061, पृ० 79, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
96. वही, पृ० 84
97. वही, पृ० 79
98. वही, पृ० 65

# अध्याय—चतुर्थ

धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य  
की परिकल्पना

## अध्याय : चतुर्थ

### धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य की परिकल्पना

भारतीय संविधान के अनुसार भारतवर्ष एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता दी गयी है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को ग्रहण करे। साथ ही उस धर्म के नियमों एवं सिद्धान्तों के पालन एवं प्रचार-प्रसार के लिए भी वह पूर्ण स्वतन्त्र है। किन्तु इसके लिए निष्पक्षता का भाव आवश्यक है क्योंकि हमारा भारतीय समाज बहुधर्मी समाज है। इसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। अतः पारस्परिक संघर्ष से बचने के लिए धर्म के प्रति तटस्थता का भाव आवश्यक है, जिसका सभ्य समाज के व्यक्तियों द्वारा ध्यान भी रखा जाता है। तथापि कभी-कभी उनमें पारस्परिक संघर्ष की स्थिति भी दृष्टिगत होती है। किन्तु यह धार्मिक संघर्ष की स्थिति मध्यकालीन समाज में चरमोत्कर्ष पर थी। इस काल में हिन्दू-मुस्लिम का धर्मगत भेद अधिक था। जिसके कारण समाज में दो विरोधी वर्ग बन गये थे और आये दिन टकराव की स्थिति पैदा होती रहती थी। इस काल में वर्ण एवं जाति का भाव भी दृढ़ था। हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था जो पूर्व में सरल श्रम-विभाजन पर आधारित थी कालान्तर में अत्यधिक संकीर्ण एवं जटिल हो गयी। तत्पश्चात् यह वंश परम्परागत और पूर्व निश्चित उत्पादन के आधार पर जाति-व्यवस्था के रूप में विकसित हुई। जाति-व्यवस्था ने समाज को विकृत बना दिया। ऊँच-नीच, छुआछूत आदि की भावना के कारण निम्न जातियों की दशा दयनीय हो गयी। उनके साथ अनेक अमानवीय व्यवहार होते थे। वे अपने समस्त अधिकारों से वंचित थे। उन्हें पूजा-पाठ का भी अधिकार नहीं था। इस प्रकार मध्यकालीन समाज धर्म, वर्ण एवं जाति आदि की कुत्सित भावनाओं से ग्रस्त था, जिसे दूर करने के लिए कबीरादि सन्तों ने आवाज़ उठायी। उन्होंने धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष मनुष्य

की कल्पना की और इस कल्पना को साकार करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। कबीर कहते हैं कि—

पक्षापक्षी कारने सब जग रहा भुलान।

निरपक्षै है हरि भजै तेई संत सुजान।।<sup>1</sup>

### 1. सामन्ती व्यवस्था से व्यापारिक पूँजीवाद की ओर संक्रमण और मनुष्य की परिकल्पना में बदलाव—

एक स्थिति अथवा अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। अथवा “समाज विकास एक स्तर सोपान से जब दूसरे सोपान की ओर बढ़ता है तो मध्य की स्थिति को संक्रमण काल की संज्ञा दी जाती है।”<sup>2</sup> इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था के व्यापारिक पूँजीवाद की ओर बढ़ने की प्रक्रिया को संक्रमण कहा जायेगा। यह सामाजिक विकास अथवा परिवर्तन पर निर्भर होता है। जैसे—वर्ण—व्यवस्था से सामन्ती व्यवस्था, सामन्ती व्यवस्था से व्यापारिक पूँजीवाद, व्यापारिक पूँजीवाद से मार्क्सवाद, मार्क्सवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण आदि।

हिन्दू धर्म में प्रचलित वर्ण—व्यवस्था भारतीय समाजिक संरचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ है—रंग। कहीं—कहीं ‘वर्ण’ शब्द का प्रयोग ‘वरण’ करने के अर्थ में भी किया जाता है क्योंकि प्राचीन काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि जातियों के पेशों का ‘वरण’ या ‘चुनाव’ अलग—अलग किया गया था। किन्तु ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग आर्यों और दासों के अलगाव के लिए हुआ है। पी०वी० काणे लिखते हैं कि—“प्रारम्भ में वर्ण शब्द का प्रयोग गोरे आर्यों और काले दासों के लिए किया जाता था। किन्तु धीरे—धीरे इसका प्रयोग गुणों एवं कर्मों के आधार पर बने चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए किया जाने लगा।”<sup>3</sup> इस प्रकार वर्ण—व्यवस्था व्यवसायिक विभाजन

की एक व्यवस्था है जो गुण एवं कर्म अर्थात् व्यक्ति के स्वभाव एवं कार्य करने की क्षमता पर आधारित है।

किन्तु मनुष्य के कार्यों का विभाजन करने वाली प्राचीन काल की यही व्यवस्था कुछ समय पश्चात् जाति-व्यवस्था में परिवर्तित होकर मनुष्य के विभाजन का कारण बनी। मनुष्य की पहचान मनुष्य के रूप में न होकर जातीयता के आधार पर होने लगी, जो आज भी समाज में व्याप्त है। डॉ० संजीव महाजन कहते हैं कि “प्रारम्भ में यह विभाजन व्यक्ति की योग्यता और रुचि पर आधारित रहा और कालान्तर में इन वर्णों में जब यह धारणा पनपी कि दूसरे वर्ण के व्यवसाय को अपनाना अनुचित है तब वर्ण व्यवसाय धीरे-धीरे जन्म पर आधारित होकर जाति व्यवस्था के रूप में विकसित होती गई और आज तक विद्यमान है।”<sup>4</sup>

वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिवर्तित होकर अत्यधिक संकीर्ण एवं जटिल हो गयी। जाति का मौलिक सिद्धान्त था-जन्म के आधार पर व्यक्ति की सदस्यता। व्यक्ति ने जिस जाति में जन्म ले लिया उसका अन्तिम संस्कार भी उसी जाति में होना है। “जाति जन्म से मिलती है। इसलिए इसे एक ‘बन्द-वर्ग’ (Close- Class) भी कहा गया है अर्थात् इसमें न तो बाहर से कोई सदस्यता प्राप्त कर सकता है और न कोई अपनी जाति की सदस्यता छोड़कर बाहर हो सकता है”<sup>5</sup> ये सिद्धान्त जाति-व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त दूसरी जातियों के प्रति घृणा, ऊँच-नीच तथा शुद्धि-अशुद्धि के नियम भी इससे जुड़े होते हैं जिसका कठोरता से पालन किया जाता है।

### सामन्ती व्यवस्था

सामन्ती व्यवस्था इसी जाति-व्यवस्था पर आधारित मानी जाती है। राज्य का राजा जिस वंश अथवा जाति (जैसे चन्द्रवंशी, सूर्य वंशी, अग्निवंशी आदि) का होता था, उसी वंश से वह अपना सामन्त भी चुनता था। उदाहरणस्वरूप राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था

राजपूतवंश पर आधारित थी। कर्नल टाड ने सामन्ती व्यवस्था के राजपूत वंश पर आधारित होने के सन्दर्भ में कहा है कि— “स्थानीय शासन व्यवस्था का आधार वहाँ की जागीदारी प्रथा थी।..... यहाँ के प्रचलित नियमों के अनुसार विशुद्ध रूप से राजपूत कुलोत्पन्न व्यक्ति ही सामन्त होने का अधिकारी था। वंश की श्रेष्ठता का अधिक महत्व था।”<sup>6</sup>

कुछ लोगों का मानना है कि सामन्तवाद की उत्पत्ति राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को भूमि-दान करने से हुई है। ब्राह्मण जिसे उच्च कुल में उत्पन्न हुआ माना जाता था, उन्हें उद्योग-धन्धों से कोई मतलब नहीं था। इन्हें ‘निठल्लावर्ग’ भी कहा गया है। राजा लोग इन निठल्ले वर्गों को भूमि-दान कर दिया करते थे और ये लोग ही सामन्त के रूप में प्रतिष्ठित होते थे।

ब्राह्मणों को भूमि-दान करने की बात कौटलीय अर्थशास्त्र में कही गयी है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि राजाओं को चाहिए कि ब्राह्मण को उनके उपभोग के लिए भूमि दें। परन्तु उनसे किसी प्रकार का कर वसूल न करें—

ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो

ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्याभिरुपदाय कानि प्रयच्छेत् ।।<sup>7</sup>

मोहिनी माथुर का मानना है कि—“भारतवर्ष में सामन्तवाद की उत्पत्ति का मुख्य आधार धार्मिक रहा” है। राजाओं के द्वारा ब्राह्मणों को भूमि दान में दी जाती थी। उसमें राजा हस्तक्षेप नहीं करता था। भारतीय धर्मशास्त्र महाभारत, पुराण आदि में इसका उल्लेख मिलता है। जो भूमि ब्राह्मणों को स्वीकृति होती थी, इसकी दो मुख्य बातें थीं—इस भूमि के राजस्व के सभी स्त्रोत व प्रशासकीय पुलिस कार्यों को समाप्त कर दिया जाता था। उस क्षेत्र का पूर्ण प्रशासन भी उसी ब्राह्मण को सौंप दिया जाता था और वे ब्राह्मण स्वतन्त्र सामन्त के रूप में अपने क्षेत्र में कार्य करने लगते थे।”<sup>8</sup> इस बात का समर्थन करते हुए डॉ०

कमला गुप्ता कहती हैं कि—“भारतीय सामन्तवाद ने धार्मिक अनुदान भोगियों के रूप में प्रश्रय और विकास पाया। भूमि अनुदान के साथ-साथ राजस्व व्यवस्था और दण्ड प्रशासन का अधिकार भी धार्मिक अनुदान भोगियों के हाथ में चला गया। अपने सीमावर्ती प्रदेश की जनता से बैठ बेगार लेने का अधिकार भी उन्हें मिल गया।”<sup>9</sup>

सामन्तवाद क्री उत्पत्ति का कारण कोई भी रहा हो। समाज पर इसका प्रभाव अच्छा नहीं था। समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। स्वामी व अनुचर। स्वामी (सामन्त) मानों अपने अनुचर (कृषक वर्ग) का शोषण करने के लिए अधिकृत था। वह कृषकों पर इच्छानुसार कर लगता था। मनमाने ढंग से उसे वसूल करता था और कभी-कभी उनसे बेगार भी लेता था। यह उनका अधिकार था, जबकि कर्तव्य के नाम पर उन्हें राजा को, राजा द्वारा प्रदत्त भूमि के बदले सैनिक सुरक्षा पहुँचानी होती थी। तात्पर्य यह है कि वे कृषकों के साथ मनमाना व्यवहार करते थे उनमें स्वेच्छाचारिता अधिक थी, जबकि अंकुश नाम मात्र का था। समय के साथ उनकी स्वेच्छाचारिता और अधिक बढ़ती गयी। “मध्यकाल तक आते-आते सामन्तों के अधिकार असीमित और अनियन्त्रित हो गये। भूमि पर उनका एकाधिकार स्थापित हो गया था।”<sup>10</sup> भूमि पर उनका एकाधिकार हो जाने के कारण वे अपने अधीन वर्गों से दासों एवं गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। राजा को भी इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। वह अपनी विलासिता में खोया रहता था और उनके अधिकारी एवं कर्मचारी आम आदमी के साथ क्रूरता का व्यवहार करते थे, जिसे वे चुपचाप झेलते रहते थे। कबीर ने इस व्यवस्था का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

गाँइ' कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।

जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकों मारै हो राम॥

खोटी महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।

बुरा दिवाँन दादि नहिं लागै, एक बाँधे इक मारै हो राम ।।<sup>11</sup>

किन्तु साधारण जनता शासन के इन अत्याचारों को अपना भाग्य समझ कर अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त रहती थी। 'कोई नृप होई हमें का हानि।' मानो उसे राजा या उसके कर्मचारियों से न तो कोई आशा थी न कोई शिकायत, बस वह अपनी आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करने में दिन-रात जुटी रहती थी। साधारण जनता इस बात को समझ चुकी थी कि इन अनजानों के राज्य में समझदार व्यक्ति (भक्त) का मरण ही है क्योंकि व्यवस्था करने वालों का सरोकार केवल अपना पेट भरना था। उन्हें अपने भोग-विलास की वस्तुएँ इकट्ठा करनी होती थीं। इस विषय में कबीर की अभिव्यक्ति है—

जाँण भगत का नित मरण अणजाँणे का राज ।

सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सँ काज ।<sup>12</sup>

सामन्ती व्यवस्था में उत्पादन अत्यधिक छोटे पैमाने पर होता था। इनके उत्पादन का उद्देश्य विकास के मार्ग पर अग्रसर होना नहीं था, बल्कि आवश्यकतानुसार उपभोग की सामग्री तैयार करना था। कृषि पर आधारित सामन्ती उत्पादन प्रणाली अत्यधिक सीमित थी। परिवार के लोग ही अपने श्रम से उत्पादन करते थे। इस व्यवस्था की एक खास बात यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय जातिगत था।

रामविलास शर्मा ने इरफान हबीब द्वारा लिखित पुस्तक 'दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इण्डिया 1556-1707' का हवाला देते हुए लिखा है कि—“सामन्ती व्यवस्था की विशेषता यह है कि उत्पादन मुख्यतः खाने खरचने के लिए होता है, वस्तुओं का विनिमय अत्यन्त सीमित होता है। अर्थतन्त्र में वित्त की भूमिका संकुचित होती है और कुटुम्बगत में जो बाप का पेशा होता है, वही सन्तान का होता है।”<sup>13</sup> ऐसा इसलिए होता है क्योंकि “जाति के बारे में यह लोक धारणा है कि जब एक बार ब्राह्मण है तब हमेशा ब्राह्मण है,



और एक बार चमार है तो हमेशा चमार। इसका मतलब यह हुआ कि सभी जातियों के निर्धारित धन्धे हैं। सामान्यतः प्रत्येक जाति अपने परम्परागत धन्धों को करती है।<sup>14</sup> पिछली पीढ़ी ने जिस भी धन्धे (कृषि, दस्तकारी, कारीगरी आदि) को किया था, वर्तमान पीढ़ी भी उसी धन्धे को करेंगी। यह जाति-व्यवस्था का मूल आधार है। सामन्ती व्यवस्था इसी जाति-व्यवस्था पर आधारित है। अतः सामन्ती व्यवस्था में भी व्यक्ति को योग्यतानुसार पेशे के चुनाव की स्वतन्त्रता नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य करना पड़ता था जो जातीयता के आधार पर पूर्व निश्चित था। उच्च जातियों के लिए ऊँचे पेशे थे तो नीची जातियों के लिए निम्न पेशों का निर्धारण किया गया था।

संजीव महाजन कहते हैं कि—“जाति की परम्पराओं में कुछ पेशे ऊँचे निर्धारित हैं और कुछ निम्नस्तर के हैं तथा जातीय दृष्टिकोण से ही पेशों का चयन भी व्यक्ति करता है। पेशों का यह वर्गीकरण धर्म की पवित्रता और अपवित्रता से सम्बन्धित रहा है। निम्न जातियाँ निम्न पेशों का तथा उच्च जातियों के लोग ऊँचे पेशों का चयन करते हैं।<sup>15</sup> पेशों का चुनाव पूर्व निश्चित होने के कारण व्यक्ति की योग्यता एवं प्रतिभा को क्षति पहुँचती थी। वह अपनी योग्यता का लाभ नहीं उठा सकता था क्योंकि वह अपनी जाति की सदस्यता को नहीं बदल सकता। “जाति-व्यवस्था में निषेधात्मक नियमों की बहुलता के कारण व्यक्ति का व्यवहार पूर्ण रूपेण प्रतिबन्धित रहता है। इससे व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुकूल ऊपर नहीं उठ सकता। व्यक्ति यह जानता है कि चाहे वह कितना ही परिश्रम क्यों न कर ले अथवा कितना ही अच्छा कार्य क्यों न कर ले, वह अपने जाति की सदस्यता को बदल नहीं सकता।<sup>16</sup>”

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का पेशा जन्म के साथ ही निर्धारित हो जाता था और वह उसे अपना भाग्य समझ कर स्वीकार भी कर लेता था। किन्तु मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी

है। वह भाग्य के भरोसे कब तक रह सकता है। उसने जाति-प्रथा पर आधारित सामन्ती व्यवस्था का विरोध किया साथ ही उद्योगों एवं बाजारों के विकास होने के कारण धीरे-धीरे उत्पादन प्रणाली भी बदलने लगी और व्यापारिक पूँजीवाद का जन्म हुआ।

### पूँजीवादी व्यवस्था

“यह व्यवस्था पूँजी और लाभ की भावना पर आधारित है अतः इसे पूँजीवादी व्यवस्था कहते हैं”<sup>17</sup>

इस व्यवस्था में सामन्ती व्यवस्था की भाँति जातीयता के आधार पर कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से प्रतिबन्धित नहीं था। इसका आर्थिक संगठन जातिगत न होकर व्यक्तिगत था। जिस व्यक्ति के हाथ में पूँजी होती थी, वह अपना उद्योग-धन्धा चला सकता था और अपनी योग्यता एवं निपुणता का उपयोग कर अधिक से अधिक धन एकत्र कर सकता था। साथ ही इस एकत्रित धन का मालिक वह स्वयं होता था कोई जागीदार अथवा सामन्त नहीं। इस प्रकार जहाँ सामन्ती व्यवस्था में आदमी को व्यक्ति होने का अधिकार नहीं था, वह समूह में गिना जाता था, वहीं पूँजीवाद व्यवस्था व्यक्ति पर ही केन्द्रित थी। इसमें जाति, धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सामन्ती व्यवस्था से व्यापारिक पूँजीवाद की ओर संक्रमण का कारण व्यवसायिक चुनाव में जाति, धर्म से जुड़े कठोर प्रतिबन्ध थे, जो व्यापारिक पूँजीवाद के कारण काफी कम हो गये क्योंकि—“पूँजीवादी और औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था का परिवर्तनकारी प्रभाव जाति व्यवस्था पर भी पड़ा है। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना के कारण श्रमिकों की महत्ता में वृद्धि हुई और सभी जाति के सदस्यों को साथ रहकर कार्य करना आवश्यक हो गया। ये कार्य जाति पर आधारित न रहकर व्यक्तिगत योग्यता पर निर्धारित होने लगे हैं। इसके साथ ही व्यवसायों की अनुवंशिकता भी पूरी तरह से खत्म हो गई है।”<sup>18</sup> इस प्रकार हम कह सकते हैं कि

उद्योगों एवं बाजारों के विकास ने सामन्तवाद को समाप्त करने एवं पूँजीवाद को विकसित करने में अत्यधिक सहायता पहुँचायी।

“कार्लमार्क्स के अनुसार जर्जर सामंती समाज के पतन के साथ औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। इसके विकास के पीछे सामंती व्यवस्था के क्रांतिकारी तत्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य सामाजिक परिस्थितियाँ भी थीं। अमेरिका की खोज एवं अफ्रीका के दक्षिणी किनारे से होकर यातायात की शुरुआत ने उभरते हुए पूँजीपति वर्ग के लिए उद्योगों और बाजार के नये द्वार खोल दिये। भारत और चीन के बाजार, अमेरिका का उपनिवेशीकरण, अन्य उपनिवेशों से व्यापार, विनिमय और उत्पादन के साधनों में वृद्धि ने वाणिज्य, नौ परिवहन तथा उद्योग को ऐसी तेज गति से विकसित किया जो इतिहास में इसके पहले कभी नहीं हुआ था।”<sup>19</sup> उद्योगों के विकास से बाजारों की आवश्यकता भी बढ़ी। किन्तु “नए बाजारों की बढ़ती आवश्यकता की पूर्ति, श्रेणियों के चतुर्दिक संगठित सामंती उत्पादन प्रणाली के द्वारा संभव नहीं थी। सामंती उत्पादन की पद्धति यंत्रों पर आधारित उत्पादन की व्यवस्था के सम्मुख न टिक सकी। परिवार तथा श्रेणी पर आधारित श्रम-विभाजन कारखानों के श्रम-विभाजन के साथ ही लुप्त हो गया।”<sup>20</sup>

इस प्रकार मशीनीकरण एवं औद्योगीकरण अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था जो पूँजी एवं लाभ पर आधारित थी, अपने विकास क्रम में जाति का महत्त्व कम कर दिया। पूँजीवादी व्यवस्था में उद्योग-धन्धों की उन्नति हुई जिससे बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ। इन नगरों में विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोगों को एक साथ उठना-बैठना तथा काम करना पड़ता था जिससे जातीयता के नियमों का पालन करना सम्भव नहीं था। ग्रीन ने लिखा है कि—“यद्यपि ब्राह्मणों को शूद्रों की छाया मात्र से दूषित होने के लिए लम्बा धार्मिक स्नान करना पड़ता था, किन्तु नगर की भीड़ भाड़ वाली गली और व्यस्त कार्यालयों में शूद्रों की

छाया से बचा नहीं जा सका।”<sup>21</sup>

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सामन्ती व्यवस्था से व्यापारिक पूँजीवाद की ओर संक्रमण से मनुष्य की परिकल्पना में अत्यधिक बदलाव आया। धन का महत्व बढ़ने से धर्म की प्रभुता लगभग समाप्त हो गयी जिससे जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि भावनाएँ भी खत्म हो गयीं। साथ ही नगरीकरण ने भी धार्मिक संकीर्णताओं को दूर करने में काफी मदद की। इसके अतिरिक्त जाति-व्यवस्था पर आधारित सामन्ती व्यवस्था जो अब तक व्यवसायिक चुनाव में व्यक्ति के गुणों एवं योग्यताओं का अनदेखा कर रही थी, समाप्त हो गयी। पूँजीवादी समाज में व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार व्यवसाय चुनने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था। व्यक्ति की प्रतिष्ठा के निर्धारण में धन भी महत्वपूर्ण था। समाज में एक पूँजीपति शूद्र को गरीब ब्राह्मण से ज़्यादा प्रतिष्ठित समझा जाता था।

## 2. मानवीय गरिमा की प्राथमिकता

सामान्यतः मानवीय गरिमा का अर्थ है—मनुष्य होने के गौरव का एहसास। किन्तु जब समाज धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर विभाजित हो और व्यक्ति की क्षमता, योग्यता एवं उसके समस्त अधिकार भी धर्म, वर्ण, जाति के निषेधात्मक नियमों द्वारा प्रतिबन्धित हों तो मानव होने का अनुभव कर पाना असम्भव है। अतः मानवीय गरिमा को प्राथमिकता देने का अर्थ है— मानवीय अधिकारों की सुरक्षा। यदि मनुष्य के पास उसके अधिकार सुरक्षित होंगे तो उसकी गरिमा को भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता और यदि किसी व्यक्ति द्वारा किये गये कार्य से दूसरे व्यक्ति की गरिमा को क्षति पहुँचती है तो वह व्यक्ति अपने अधिकारों का सदुपयोग करते हुए उस कार्य को निर्णायक तरीके से रोक भी सकता है। अतः मानवीय अधिकार जो व्यक्ति के जन्मसिद्ध अधिकार होते हैं, उसके पास जन्म से ही सुरक्षित होने चाहिए क्योंकि इसी पर उसके व्यक्तित्व का विकास एवं उसका गरिमामय

जीवन निर्भर करता' है।

इस सम्बन्ध में डॉ० नचिकेता सिंह लिखते हैं—“मानवाधिकार का आधार रंग, जाति, लिंग, धर्म या अन्य भेदभाव के बिना मानवीय गरिमा और उसकी पूर्ण उपयोगिता के लिए सम्मान की भावना है। मानवाधिकारों को व्यापक रूप में व्यक्ति के ऐसे अधिकार समझा जा सकता है जो व्यक्ति के गरिमामय जीवन के लिए आवश्यक हैं। यह अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के पर्याप्त विकास और खुशहाली के लिए जरूरी है।”<sup>22</sup> मानवीय गरिमा के लिए मानवाधिकारों को आवश्यक बताते हुए ए०ए० सईद लिखते हैं कि—“मानव अधिकार व्यक्ति की गरिमा से सम्बन्धित हैं। व्यक्तिगत पहचान का स्तर आत्म-सम्मान को संरक्षित करता है और मानवीय समुदाय को बढ़ावा देता है।”<sup>23</sup>

इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास, उसका अस्तित्व एवं गरिमामय जीवन सभी कुछ मानवीय अधिकारों में निहित है। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार मिलना चाहिए, वह चाहे जिस धर्म, वर्ण, अथवा जाति का हो। धर्म, वर्ण, जाति की श्रेष्ठता के आधार पर मनुष्य को उसके अधिकारों से वंचित करने का अर्थ है मानवीय गरिमा को ठेस पहुँचाना। इसी कारण मानवीय गरिमा को प्राथमिकता देने वाले सन्त कबीर धर्म, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय आदि के आधार पर कोई श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि सभी जीव समान हैं, न कोई ऊँचा है न कोई नीचा और यदि ऐसा कुछ होता तो भगवान स्वयं मानव के जन्म से ही तीन विभाजक रेखाएं खींच देता—

जौ पै करता बरण बिचारै, तौ जनमत तीनि डाँड़ि किन सारै।।

X X X

कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सौ मधिम जा मुखि राम न होई।।<sup>24</sup>

अतः कबीर की दृष्टि में मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार धर्म, वर्ण, जाति नहीं बल्कि

भगवान की भक्ति थी। उनके लिए वही व्यक्ति सम्माननीय है जो राम का सच्चा भक्त है।

डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र कहते हैं कि “कबीर पहले इन्सान हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों और वर्णों को नकारकर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया, जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। पीड़ित, शोषित, अपमानित जनसमाज के दुःख से जितना सरोकार कबीर का रहा है उतना भक्ति काल के किसी अन्य कवि का नहीं। इनका सबसे बड़ा योगदान शोषित, पीड़ित, दलित अपमानित मानवजाति में सम्मान की भावना जागृत करना रहा है।”<sup>25</sup>

इस प्रकार मानवीय अस्तित्व की बात सर्वप्रथम कबीर ने सोची। उनकी इस सोच के पीछे उनके जीवन का दुःखद अनुभव भी है। किन्तु अपने जीवन की दुःखद बातें करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण समाज की व्यथा को चित्रित कर दिया। अतएव वह न केवल स्वयं इस अपमानित जिन्दगी से बाहर निकलना चाहते थे, बल्कि समाज के उन तमाम लोगों को भी बचाना चाहते थे, जो समाज में तथाकथित नीच समझे जाते थे और अत्यधिक उपेक्षित एवं घृणित जीवन व्यतीत कर रहे थे। “अपने वर्ग में आत्मसम्मान और आत्म विश्वास का भाव पैदा करने के लिए वह सांस्कृतिक रास्ते से निरन्तर प्रयत्नशील थे। अखंडित एवं समग्र मनुष्यता की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से वह पूरी व्यवस्था को पलटना चाहते थे।”<sup>26</sup> इसके लिए वे जीवन पर्यन्त लड़ते रहे। डॉ० लक्ष्मण सहाय का मानना है कि—“निम्न-जाति के होने की घौषणा करके अभिजात्य-वर्ग के समक्ष सिर उठाकर चलने, घात-प्रत्याघात की तीव्र आँधी के सामने न झुकने, भविष्य में आने वाले घातक खतरों से न डरने आदि का आत्म-विश्वास और आत्म-बल कबीर के चरित्र का अभिन्न अंग था। इस अपरमित शक्ति से कबीर निम्न-वर्ग को संगठित होने के लिए तथा उस वर्ग (सामाजिक, धार्मिक, सत्तासीन प्रमुखों) से जूझने-लड़ने और उनसे अधिकार छीनने के लिए आमंत्रित करते हैं। वे उन्हें अन्याय,

अत्याचार, उत्पीड़न—शोषण से उबारने, उनसे मुक्त कराने के लिए आह्वानित करते हैं।<sup>27</sup> इसके लिए कबीर हाथ में मुराड़ा लेकर सामान्य—जन का नेतृत्व करने तथा जन मुक्ति आन्दोलन को सफल बनाने के लिए घर से बाहर निकल पड़े—

हम घर जाल्या आपणों, लिया मुराड़ा हाथि।

अब घर जालौं तास का, जै चलै हमारे साथि।<sup>28</sup>

कबीर की वाणी में इतनी शक्ति थी कि उनके इस आमन्त्रण को मध्यकाल के अनेकानेक लोगों ने सहर्ष ही स्वीकार कर लिया (विशेष रूप से उन लोगों ने जो निम्न जाति के थे और मानवाधिकारों से वंचित थे एवं तिरस्कृत जीवन व्यतीत कर रहे थे) और समाज के तमाम सन्तप्त, उत्पीड़ित एवं उपेक्षित लोगों के मन में आशा, आत्म—विश्वास एवं आत्म—बल पैदा करने में योगदान दिया।

इस सन्दर्भ में रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि—“अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन निर्गुण सन्त—महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है और यह प्रतिभा कबीर में सर्वाधिक थी।”<sup>29</sup> मानवीय अस्तित्व की रक्षा करना ही मानो कबीर—काव्य का उद्देश्य था। वे केवल सन्त नहीं थे, जिन्होंने आध्यात्मिक संसार में प्रविष्ट होने के मार्ग का निर्माण किया बल्कि समाज में धर्म, वर्ण, एवं जातिगत आधारों पर मिली गुलामी के कारण दीन—हीन जीवन व्यतीत कर रहे पददलितों का भी उद्धार किया। उन्हें मानव होने का अनुभव कराया तथा समाज में सिर उठाकर जीने के लिए प्रेरित किया। “कबीर का अर्थ अब संत ‘कबीर’ और उनके मोह—माया के मुक्ति—प्रसंगों तक सीमित नहीं है। ‘कबीर’ का अर्थ अब उस वृहत्, परित्यक्त, शोषित, असहाय, पददलित, निःशक्त, बहुसंख्यक समाज से है जिसे सैकड़ों वर्षों की अमानवीय गुलामी में दबा कर रखा गया है।”<sup>30</sup>

कबीर मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के पक्षपाती थे। छुआछुत, जाति—पाँति,

मनुष्य द्वारा मनुष्य को छोटा करके देखने का जो भाव था, कबीर को कतई पसन्द नहीं था क्योंकि ये ही वे भाव हैं जिससे मानवीय गरिमा को ठेस पहुँचती है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं कोई छोटा या बड़ा नहीं है। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर श्रेष्ठता की बातें करना उच्च जातियों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र है। सत्य केवल इतना है कि परमतत्त्व एक ही है जो सर्वत्र व्याप्त है—

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।

एक ही खाक घड़े सब भाँड़े, एक ही सिरजनहारा।<sup>31</sup>

अतः किसी को छोटा या बड़ा समझना या इस आधार पर उसे उसके अधिकारों से वंचित करना अथवा दीन—हीन समझ कर कोई ज़ोर ज़बरदस्ती करना कानून और ईश्वर दोनों ही दृष्टि से अपराध है। कबीर ने यह बार—बार कहा है कि ईश्वर की दृष्टि में सभी समान हैं ईश्वर ने न तो किसी को छोटा या बड़ा बनाया है और न उसने किसी भी वर्ग पर ज़ोर ज़बरदस्ती का हुक्म दिया है—

अल्लह अबलि दीन को साहिब, जोर नहीं फुरमावै।<sup>32</sup>

यदि किसी ने भी श्रेष्ठता के आधार पर किसी पर जुल्म किया, तो वह निःसंदेह अपराधी है और भगवान् उसके अपराधों की सज़ा भी अवश्य ही देगा—

‘जोरी कियॉ जुलम है, माँगे न्याव खुदाई।

खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहि खाइ।<sup>33</sup>

अतः संसार में किसी भी दृष्टि से (धर्म, वर्ण जाति) न कोई ऊँचा है न नीचा। अतः उच्चता एवं निम्नता के भ्रम में पड़कर किसी के साथ कोई अमानवीय व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी ईश्वर की ही सन्तान हैं और उत्पत्ति की दृष्टि से भी सभी समान हैं—

अव्वल अल्लह नूर उपाया, कुदरत के सब बंदे।



एक नूर ते सब जन उपज्या, कौन भले को मंदे ।<sup>34</sup>

इस प्रकार कबीर मानवीय गरिमा को प्राथमिकता देने वाले प्रथम कवि हैं। उनकी दृष्टि में धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर कोई छोटा या बड़ा नहीं है, बल्कि सभी समान हैं। सभी लोगों को इसी समतावाद का पाठ पढ़ाकर उन्होंने मनुष्यमात्र की गरिमा बढ़ाई।

### 3. धर्म, वर्ण और जातिगत पहचान का निषेध

“हमारे देश में अनेक जाति, वर्ण और संप्रदाय के व्यक्ति निवास करते हैं। अनेक भाषा बोलते हैं और अनेक प्रकार की वेशभूषा धारण करते हैं। देश का बड़ा दुर्भाग्य है कि यहाँ जाति, धर्मगत, ईर्ष्या, द्वेष, बैर, विरोध की भावना समय-असमय भयंकर ज्वालामुखी के रूप में भड़क उठती है।”<sup>35</sup> किन्तु इस ज्वालामुखी ने मध्यकालीन समाज में अपना विकराल रूप धारण कर लिया था, जिसके दलदल में सभी बुरी तरह फंसे हुए थे। उनका वहाँ से निकलना कठिन था। किन्तु मध्यकालीन सन्तों ने उन्हें इस दलदल से निकालने का प्रयास किया। जिसमें कबीर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी कारण रवीन्द्रनाथ मिश्र कहते हैं कि—“कबीर पहले इन्सान हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों जातियों और वर्णों को नकार कर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया, जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच, भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।”<sup>36</sup> कबीर जी की भक्ति साधना—‘जाति-पाँति पूछे नहीं कोय हरि को भजे सो हरि का होय’ पर ही आधारित थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

कामी क्रोधी लालची इन तें भक्ति न होय।

भक्ति करै कोई सूरमा जाति वरन, कुल खोय।<sup>37</sup>

अतः यह ज्ञात होता है कि मध्यकालीन समाज में निःसंदेह धर्म, वर्ण और जाति की दृष्टि से घोर संघर्ष व्याप्त था जिसका समाधान सन्त कवियों ने अपनी वाणी के माध्यम से

प्रस्तुत किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जातीय संकीर्णता बेबुनियाद है क्योंकि सभी मनुष्य एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। ईश्वर की भक्ति के लिए जाति का कोई बन्धन नहीं है बल्कि ईश्वर की प्राप्ति उसी व्यक्ति को हो सकती है जो धर्म, वर्ण और जाति की संकीर्ण भावना से मुक्त होकर उसकी भक्ति करे। इसी कारण—“प्रायः सभी संतों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि जाति, वर्ण और कुल को खोकर ही जीव मुक्तावस्था को प्राप्त करता है। भक्ति संकीर्णताओं में जीकर नहीं की जा सकती, भक्ति तो वही सूरमा कर सकता है जो अपनी जाति अपना कुल और अपनी धार्मिक संकीर्णताओं का त्याग कर दे।”<sup>38</sup>

यद्यपि यह सर्वांश सत्य है कि धर्म मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है। धर्म ने ही उस मार्ग का निर्माण किया है जिस पर चलकर मनुष्य मात्र लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही सुखों को प्राप्त कर सकता है। किन्तु यह धर्म संकीर्णता से रहित तथा वास्तविकता के सन्निकट होना चाहिए। जबकि “कबीर जिस समय (विक्रम की 15वीं शताब्दी) की उपज थे वह समय भारतीय इतिहास में विभिन्न धर्मों और साधनाओं का समय था।.... हर एक अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता था। धर्म के नाम पर पाखंड, दंभ और आडंबर मात्र रह गया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही विभिन्न सम्प्रदायों एवं जातियों में विभक्त हो चुके थे। एक दूसरे का स्पर्श करना पाप समझा जाता था। इस प्रकार की परिस्थिति में पड़ा हुआ तत्कालीन समाज कराह रहा था। कबीर ने अपनी रचनाओं में इन दंभियों और ढोंगियों को फटकारते हुए उन्हें धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाया।”<sup>39</sup> जो लोग इस बात को नहीं समझते कबीर उन्हें ज़बरदस्त फटकार लगाते हैं। अन्य जातियों से स्वयं को श्रेष्ठ समझने वाले ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए उनसे ही पूछते हैं कि तुम शूद्रों से श्रेष्ठ कैसे हो सकते हैं? क्या तुम्हारी धमनियों में दूध बहता है और शूद्रों की धमनियों में लहू—

तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद्र।

हम कत लोहू तुम कत दूध।<sup>40</sup>

इसी प्रकार मुसलमानों को फटकारते हुए उन्होंने कहा है कि अगर तुम अन्य मनुष्यों से भिन्न हो तो तुम्हारा खतना माता के गर्भ में ही क्यों नहीं हो गया—

जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।

कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सौ मधिम जा मुखि राम न होई।<sup>41</sup>

अतः उत्पत्ति की दृष्टि से सब जीव समान हैं न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा अगर कोई नीचा है तो वह जिसके मुख में भगवान राम का नाम नहीं है।

कबीर सभी में एक ही ईश्वर के अंश को स्वीकार करते हैं। इसी आधार पर उन्होंने सम्पूर्ण समाज जो जाति, कुल आदि धार्मिक संकीर्णताओं से पीड़ित था, उसे मुक्त किया। यद्यपि इसके लिए उन्हें अत्यधिक संघर्ष का सामना करना पड़ा, फिर भी वे निर्भय होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये। इस सम्बन्ध में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं कि— “पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर ने जीवन और साहित्य के हर क्षेत्र में विद्रोह का जो स्वर बुलन्द किया वह युग की महान् घटना है। समन्वय और समझौता उनका रास्ता नहीं था।... कबीर ने लीक पकड़ कर चलने की कोशिश नहीं की। उन्हें किसी का डर नहीं रह गया था क्योंकि उन्होंने अपने ही हाथों अपना घर फूँक दिया था और हाथ में लुकाटा लेकर चौराहे पर खड़े थे।”<sup>42</sup> यह मामूली साहस का काम नहीं था क्योंकि—“जहाँ खड़े थे कबीर, वह चौराहा भेड़ों के झुण्ड से घिरा हुआ था—जो धर्म, जाति, जैसी अटूट रस्सियों से अदृश्य रूप में बँधी हुई मिमिया रही थीं, एक दूसरे को धकेल कर आगे बढ़ रही थीं और बुद्धि के द्वार को सब ओर से बन्द कर रही थीं।... तभी ऊपर खड़ा हो गया जुलाहे का पोण्यपुत्र (न जाने किस अनाम, अजाति जनक जननी से उत्पन्न) कबीर, जो भेड़ों को उन्हीं की समझ में आने वाली कर्कश बोली में समझा सकता था। कोई जातिगत, पारिवारिक, संस्कारगत और

सम्प्रदायगत 'बोझ' उसके सर पर नहीं था।<sup>43</sup> यह बोझ किसी और के सर पर हो यह भी उन्हें पसन्द नहीं था। अतएव वे स्वयं इस चौराहे के प्रहरी बन गये और धर्म वर्ण, जाति आदि की रस्सी को अपने आत्म-ज्ञान तथा जागरूक चिन्तन के माध्यम से ढीली करने में जुट गये।

यद्यपि कवि देश काल एवं वातावरण से प्रभावित होकर ही काव्य-रचना करता है। किन्तु— “कवि केवल परम्परा का पालक नहीं होता है बल्कि वह अपने उन्नत विवेक, स्वाधीन चिंतन और आत्मानुभूत निर्णयों के द्वारा इतिहास की गति को मोड़ता हुआ नयी मानसिकता का जन्मदाता भी होता है”<sup>44</sup> अनुभव और आत्मज्ञान पर कबीर ने बहुत जोर दिया है। कबीर कहते हैं कि—

आतम ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी ।।

घर में वस्तु धरी नहि सूझै, बाहर खोजत जासी ।<sup>45</sup>

कबीर के अनुभव का अन्तिम प्रमाण धर्म ग्रन्थ अथवा दर्शन नहीं है बल्कि उनकी स्वानुभूति है। उन्होंने धार्मिक मान्यताओं में कैद अपने चारों तरफ़ के अव्यवस्थित एवं अशान्त वातावरण का सूक्ष्म निरीक्षण किया और यह अनुभव किया कि धर्म, वर्ण और जातिगत पहचान का निषेध अति आवश्यक है। यदि इस पर अब भी विचार नहीं किया गया तो यह अव्यवस्था एवं अशान्ति सदैव बनी रहेगी।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार—“जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, संप्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक अशांति रहेगी। मारामारी रहेगी। हिंसा—प्रतिस्पर्धा रहेगी। कबीर ने इस महती साधना का बीज बोया था।”<sup>46</sup> उन्होंने धर्मादि के कारण कभी भी

मानव—मानव में भेद को स्वीकार नहीं किया। वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखने के पक्षधर हैं। वह हिन्दू मुस्लिम, ब्राह्मण—शूद्र, ऊँच—नीच अथवा छोटा या बड़ा करके नहीं देखते हैं। जो ऐसी भेदवादी दृष्टि रखता है वह न केवल कबीर की दृष्टि में बल्कि अन्य सभी साधु—सन्तों की दृष्टि में भी निंदा का पात्र है। कबीर कहते हैं कि—

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ॥

सोवन कलस सुरे भर्या, साधूँ निद्या सोइ॥<sup>47</sup>

अतः उच्च कुल में जन्म लेने के उपरान्त भी व्यक्ति यदि कर्मों से हीन है तो वह सन्तों की दृष्टि में उसी प्रकार निन्दनीय है जिस प्रकार स्वर्ण कलश में भरी हुई मदिरा निन्दनीय होती है। अतः कुल की उच्चता उन्हें उच्च नहीं बना सकती। यदि कोई व्यक्ति मानव—मानव के बीच कुल, धर्म आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेद—भाव करता है तो यह उसकी अज्ञानता है। कबीर ने अपने काव्य के माध्यम से बारम्बार इस ओर इंगित किया है कि सभी मनुष्य समान हैं।

कबीर ने संसार के समस्त प्राणियों में एक ही ईश्वर के अंश का निवास बताकर सभी को समानता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उन की कल्पना ऐसे समाज की रचना करने में थी जिसमें ब्राह्मण—शूद्र का भेद न हो, छुआछूत न हो, जाति—पाँति न हो और मनुष्य—मात्र समान समझे जायें। कबीर ने सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में एक ही तत्व को स्वीकार किया है। इसी कारण सभी प्रकार की भेद—दृष्टि को मिथ्या बताकर कबीर ने जाति—पाँति, छुआछूत, ऊँच—नीच और ब्राह्मण—शूद्र का विरोध किया है। कबीर कहते हैं कि एक ही ज्योति सभी में व्याप्त है दूसरा कोई तत्व है ही नहीं—

व्यापिक एक सकल की जोती। नाउ धरे का कहिये भोती॥<sup>48</sup>

#### 4— मानव और मानवीयता की नयी व्याख्या

अच्छाइयों और बुराइयों से युक्त जीवमात्र 'मानव' की श्रेणी में आता है। किन्तु जब इसमें सदाचार, परोपकार, दया, अहिंसा, सेवा, त्याग, तप, दान, भक्ति आदि मानवोचित सदगुणों का विकास हो जाता है तब वह ज्ञानी पुरुष मानवता के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। सामान्यतः "मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—अज्ञानी, ज्ञानी अज्ञानी और ज्ञानी। अज्ञानी मनुष्यों की वृत्ति पशुवत होती है। ज्ञानी अज्ञानी वृत्ति वाले लोग मनुष्य होते हैं और केवल ज्ञानी वृत्ति वाले देव मानव होते हैं।... अज्ञानी में पशुता जन्मजात होती है, ज्ञानी अज्ञानी, में कुछ पशुता रहती है और कुछ मनुष्यता तथा ज्ञानी में पूर्ण मानवता रहती है।"<sup>49</sup>

अतः स्वभाव के अनुसार मनुष्य के तीन भेद किये गये हैं। किन्तु यदि मनुष्य चाहे तो वह अपने आचरण एवं व्यवहार के बल पर मनुष्य से मनुष्यत्व तथा मनुष्यत्व से देवत्व को भी प्राप्त कर सकता है क्योंकि मनुष्य इस संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वह ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है। ईश्वर ने उसे बुद्धि एवं विवेक का स्वामी बनाया है, जिसके कारण वह उचित—अनुचित का निर्णय करने में सफल होता है। बुद्धि एवं विवेक मानव मन की वह शक्ति है जिसके कारण मनुष्य उचित—अनुचित, नैतिक—अनैतिक का आभास सरलता से कर सकता है। तत्पश्चात् उसके अनुसार आचरण कर वह अच्छा या बुरा, जो चाहे बन सकता है। डॉ० मुहम्मद अहसन के मतानुसार—“मानव इस जगत् का एक साधन सम्पन्न प्राणी है। परमात्मा ने मानव शरीर को ऐसे साधन प्रदान किये हैं, जिसका सदुपयोग करके वह विश्व—बन्धुत्व के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है और उसी शरीर से बुरे कार्य करके वह राक्षस भी बन सकता है।”<sup>50</sup> अतः मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त समस्त साधनों का सदुपयोग कर देवत्व को ग्रहण कर ले न कि दुरुपयोग कर राक्षस बन जाए। कबीर कहते हैं कि—

जब मन निरमल करि जानाँ, तब निरमल माँहि समानाँ।<sup>51</sup>

यद्यपि मन को गंगा की निर्मलता देना—इतना सरल कार्य नहीं है किन्तु यदि एक बार ब्रह्म—ज्ञान में दृढ़ आस्था और ब्रह्माण्ड के समूचे चैतन्य होने में विश्वास हो जाए तो इस ज्ञान के सहारे ईशतत्त्व की उपलब्धि किंचित असम्भव नहीं है। अतः मानवता की प्राप्ति की सीढ़ी अन्तःकरण की शुद्धि है। अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर सर्वत्र ब्रह्म की ही झलक दिखाई पड़ती है—

जहां देखौ तहां राम समानां, तुम्ह बिन ठौर और नहिं आनां।<sup>52</sup>

मानवता की पृष्ठभूमि आध्यात्मिकता में ही निहित है। आध्यात्मिकता ही हमारी आन्तरिक चेतना को परिष्कृत करती है तथा समस्त भेद—भाव को मिटाकर समदर्शिता पैदा करती है और समदर्शिता से ही पूर्ण मनुष्यता का विकास होता है। “जीव मात्र या ‘मनुष्य’ ईश्वर का अंग है। सब मनुष्य एक परमपिता परमेश्वर की संतान हैं। इस विश्वास का अहसास हो जाने पर मनुष्य ‘अहम’ की संकीर्ण दीवारे तोड़ फेंकता है और मनुष्य मनुष्यत्व के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है।”<sup>53</sup>

डॉ० सावित्री शुक्ल ने मानवतावाद का मूल सिद्धान्त बताते हुए मानवतावाद को इस प्रकार व्याख्यायित किया है—“मानवतावाद का आधारभूत या मूल सिद्धान्त है, समस्त प्राणियों को ‘आत्म’ से भिन्न न समझना, समस्त जीवों में दया—भाव का समान रूप से प्रसार करना, सबकी दुःख की अनुभूति को आत्माभूति बनाना। इसका प्रमुख कारण यह है कि सबका रचयिता एक ही है। एक ही अंश के सब अंशी हैं। फिर मानव —मानव के बीच यह विरोध कैसा? न कोई बड़ा है, न कोई छोटा, न कोई उच्च है, न कोई नीच सब में एक ही आत्मा का प्रसार है। सब एक ही कलाकार की कृतियां हैं। एक ही ईश्वर ने सबको जन्म दिया है। सब समान है। जाति—पांति का भेद—भाव नहीं होना चाहिए।”<sup>54</sup>

कबीर ने तो मानवता को ही केन्द्र में रखकर रचना की है। मानवता को सिंहासन पर आरुढ़ करने वाले साहित्यकारों में कबीर का स्थान सर्वोच्च है। उनके काव्य का एकमात्र उद्देश्य था—मानव को मानव के सन्निकट लाना। इसी कारण उन्होंने समाज में व्याप्त उन तमाम रूढ़ियों एवं मान्यताओं को तोड़ने का प्रयास किया जो मनुष्य को मनुष्य से अलग कर रही थीं। वे मानव-मानव के बीच किसी भी आधार पर भेद-भाव को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य में एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति के दर्शन किये हैं—

एकै तुचा हाड़ मल मूत्रा। एक रुधिर इक गूदा।।

एक बूँद सो सिस्टि रची है। को ब्राह्मन को सूद्रा।।<sup>55</sup>

अतः सभी एक ही चेतन की ज्योति से उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए सभी समान हैं। किन्तु इसका आभास उसे ही हो सकता है जिसकी आत्मा पवित्र है। यदि आत्मा पवित्र न हो तो वह परम पवित्र ईश्वर को भी पहचानने में असमर्थ रहती है—

दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हों।<sup>56</sup>

अतः अन्तःकरण की शुद्धि से मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों ही सुख को प्राप्त कर सकता है। मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि—“कबीर मनुष्यत्व की भावना के विकास के लिए मनुष्य के हृदय के धर्म अर्थात् मानवीय भावों और उनसे विकसित मानवीय गुणों को लोकधर्म का आधार बनाते हैं। समाज में मानवीय भावों और मानवोचित गुणों के प्रसार के लिए मनुष्य-विरोधी भावों को हटाना आवश्यक होता है; इसीलिए कबीर ईर्ष्या, क्रूरता, कामुकता, कपट, अहंकार, पाखंड आदि की आलोचना करते हैं और प्रेम, करुणा, दया, उदारता, अहिंसा, समता आदि मानवीय भावों और गुणों को लोकधर्म बनाने पर जोर देते हैं। वे यह भी चाहते हैं कि इन मानवीय भावों, विचारों और गुणों के अनुरूप आचरण मनुष्य



स्वयं करे, न कि उसके लिए कोई अवतारी राम या कृष्ण।<sup>57</sup> कबीर ने अन्तः कारण की शुद्धि के लिए सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, धैर्य, सन्तोष, शील, क्षमा आदि मूल्य भी निर्धारित किये हैं। जो मनुष्यत्व के विकास एवं ईश्वर की प्राप्ति दोनों के लिए आवश्यक हैं।

उदाहरणस्वरूप—

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।

‘ जाके हिरदे साँच है ता हिरदे गुरु आप।<sup>58</sup>

जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।

जैसे खाल लोहार की साँस लेत बिनु प्रान।<sup>59</sup>

साँई इतना दीजिये जामें कुटुंब समाय।

मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।<sup>60</sup>

कबिरा भँवर में बैठि कै भौचक मना न जोय।

‘ डूबन का भय छँडि दे करता करै सो होय।।<sup>61</sup>

चाह गई चिंता मिटी मनुवाँ बेपरवाह।

जिनको कछू न चाहिए सोई साहंसाह।<sup>62</sup>

सीलवंत सब ते बड़ा सर्व रतन को खानि।

तीन लोक की संपदा रही सील में आनि।<sup>63</sup>

जहाँ दया तहँ धर्म है जहाँ लोभ तहँ पाप।

‘ जहाँ क्रोध तहँ काल है जहाँ छिमा तहँ आप।<sup>64</sup>

कबीर द्वारा बताये गये इन जीवन-मूल्यों को अपनाकर मनुष्य मनुष्यता के शिखर

पर पहुँच सकता है। यद्यपि ये मूल्य कोई नवीन मूल्य नहीं है। लगभग “सभी धर्मों और संस्कृतियों ने अपने देश और अपने काल के अनुसार सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए कुछ सिद्धान्त अपनाए। इन सिद्धान्तों को हम मानवतावाद के पुरातन सिद्धान्त भी कह सकते हैं—संतों ने मानवतावाद के पुरातन सिद्धान्तों को अपनाया है। ये सिद्धान्त विवाद से परे हैं, ज्ञान की पराकाष्ठा इनमें मिलती है। इनका स्वरूप हमें हर धर्म में मिलता है। इन्हीं सिद्धान्तों को ‘व्रत’ भी कह सकते हैं। संतों की विचारधारा में ‘व्रत’ का महत्वपूर्ण स्थान है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह और अभय यही सिद्धान्त या व्रत मानवतावाद के पोषक तत्व हैं। संत बानियों में इन सिद्धान्तों का प्रचुरता से प्रयोग मिलता है।”<sup>65</sup>

मध्यकालीन सन्त-कवियों ने मानवतावाद के पुरातन सिद्धान्तों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य मानवतावादी विश्वास भी प्रकट किये हैं जो इस प्रकार हैं—

अ— ऐक्य में विश्वास।

आ— जाति-भेद का विरोध।

इ— परहित साधन।

ई— निष्काम सेवा।

उ— हिन्दू-मुस्लिम एकता।<sup>66</sup>

### ऐक्य में विश्वास

हमारे भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न धर्म, जाति एवं सम्प्रदाय को मानने वाले लोग रहते हैं। इसी कारण भारतवर्ष को अनेकता में एकता, वाला देश भी कहा गया है। वैदिक साहित्य में भी एकता की भावना के अनेक मन्त्र मिलते हैं। विश्व प्रेम एवं मानवीय एकता का आधार स्वरूप वाक्य है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ।

अर्थात् सब सुखी हों, सब सकुशल रहें सबका कल्याण हो, कोई दुःख का भागी न हो ऐसा तभी सम्भव है जब सभी समदर्शी हों। समदर्शिता ही एकता की भावना को जन्म देती है क्योंकि समदर्शी मनुष्य की दृष्टि में कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। वे सभी को एक ही ईश्वर की सन्तान मानते हैं। इसी आधार पर कबीर ने मानव-मात्र की एकता का प्रतिपादन किया है। कबीर कहते हैं—

अव्वल अल्लह नूर उपाया कुदरत के सब बंदे ।

एक नूर ते सब जन उपज्या कौन भले को मंदे ।<sup>67</sup>

अतः सभी का परम पिता एक ही है। फिर छोटे-बड़े अथवा पवित्र-अपवित्र का प्रश्न ही नहीं उठता है। ‘संतों की दृष्टि में सभी को संसार में जीवित रहने का अधिकार है। इसी को ईश्वर द्वारा दिया गया ‘परमपद’ कहते हैं। इस पद को प्राप्त कर लेने के पश्चात् विश्व-बन्धुत्व की भावना की प्रतिष्ठा होती है, और मनुष्य-मनुष्य के बीच का अन्तर समाप्त हो जाता है। यही भावना सम्पूर्ण विश्व को भावनात्मक एकता के सूत्र में अनुबंधित करके चलती है, इसमें भाषा, जाति, सम्प्रदाय, देश आदि के दायरे टूट जाते हैं, यही मानव की मानवता है।’<sup>68</sup>

### जाति-भेद का विरोध

भारतवर्ष में जाति-पाँति एवं छुआछूत की बीमारी अति प्राचीन है। किन्तु मध्यकाल में यह चरमोत्कर्ष पर थी। इसके कारण निम्न जातियों की दशा अत्यधिक दयनीय हो गयी थी। उन्हें अपवित्र समझा जाता था तथा नगरों से बाहर रखा जाता था। वे अस्तित्वहीन एवं सभी मानवीय अधिकारों से वंचित थे। इसी कारण प्रायः सभी सन्तों ने

वर्ण, जाति एवं धर्मगत भेद-भावों की निन्दा की है तथा मानव और मानवीयता के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। ऊँच-नीच का भाव रखने वाले लोगों को कबीर ने पशु-जीव कहा है—

जब लग ऊँच नीच करि जाँनाँ ते पसुवा भूले भ्रम नाँनाँ।<sup>69</sup>

अतः जाति-पाँति का भेद करने वाले लोग पशु-तुल्य एवं अज्ञानी हैं तथा समाज के सबसे बड़े शत्रु हैं। इन्हीं के कारण समाज में सदैव अशान्ति बनी रहती है। इस अशान्ति से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है जातिगत-भेद रूपी बीमारी को जड़ से नष्ट करना। धर्म एवं जाति के आधार पर किया गया भेद अमानवीय व्यवहार है जो कबीर को बर्दाश्त नहीं था। “कबीर को मानवता प्रिय थी। मानवता के नाम पर जो पाखंड चलता है, उसे उन्हें घृणा थी। यदि कोई व्यक्ति मानवता से विहीन है, मानवोचित सद्गुणों से शून्य है तो वह कुल की दृष्टि से अपने को चाहे जितना ऊँचा कहे कबीर उसे ऊँचा नहीं मानते थे।”<sup>70</sup>

### परहित साधन

परहित की भावना मानवता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। जो व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर मात्र अपने लिए जीता है, वह मानवता के प्रतिकूल, पशु-तुल्य जीवन व्यतीत करता है क्योंकि परदुःख कातरता एवं परहित की भावना मानव का स्वाभाविक गुण है जो किसी व्यक्ति में ज्यादा तो किसी में कम होता है किन्तु बीज रूप में यह होता अवश्य है। यह न केवल मानव स्वभाव के प्रतिकूल है बल्कि धर्म के भी अनुकूल नहीं हैं। रामचरित मानस में तुलसी ने परहित को सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार करते हुए कहा है कि—‘परहित सरिस धर्म नहीं भाई।’ कबीर ऐसे मनुष्यों को हेय दृष्टि से देखते हैं जो दूसरों के काम न आ सकें। वह शारीरिक बनावट की दृष्टि से कितना ही बलिष्ठ एवं सुदृढ़ क्यों न हो, वह उसी प्रकार तुच्छ एवं व्यर्थ है जिस प्रकार खजूर का पेड़—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।

पंछी को छाया नहीं फल लागै अति दूर।<sup>71</sup>

### निष्काम सेवा

सेवा दो प्रकार की होती है—एक निष्काम और दूसरी सकाम। स्वार्थवश अथवा कुछ पाने की इच्छा से की गयी सेवा सकाम सेवा है। जबकि निःस्वार्थ एवं सहज भाव से की गयी सेवा निष्काम सेवा के अन्तर्गत आती है। निष्काम सेवा ही सच्ची सेवा है। वह चाहे माता, पिता अतिथि समाज, देश के प्रति की गई हो अथवा ईश्वर के प्रति की गई हो। कबीर कहते हैं कि—

जब लागि भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।

‘कहै कबीर वै क्यूँ मिलैं, निहकामी निज देव।’<sup>72</sup>

किन्तु मनुष्य में निष्काम सेवा-भाव का जन्म तभी सम्भव है जब मन वह स्वार्थ, लोभ, तृष्णा तथा मन की कुटिलता को त्याग कर नम्रता को धारणा कर ले। अतः निष्काम सेवा-भाव के लिए नम्रता अर्थात् चित्त की कोमलता आवश्यक है। कबीर कहते हैं कि—

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ।

चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ।<sup>73</sup>

अर्थात् जिस स्वामी एवं सेवक के एक मत होते हैं अथवा अपनी सेवा के माध्यम से जो सेवक अपने को स्वामी के अनुकूल बना लेता और स्वामी उसे अपना लेता है, वहाँ भिन्नता समाप्त हो जाती है। वे बाहर से पृथक् व्यवहार करते हुए भी एक दूसरे के अनुकूल प्रतीत होते हैं। अतः स्वामी कभी-कभी सेवक की कूटनीतिज्ञता से प्रसन्न नहीं होता, अपितु उसके चित्त की कोमलता एवं सहज भाव पर रीझता है। इसलिए सेवा सदैव ही निष्काम होनी चाहिए, इससे न केवल मनुष्य को प्रसन्न किया जा सकता है, बल्कि ऐसी निष्काम

सेवा-भाव से ईश्वर भी प्रसन्न हो उठता है।

### हिन्दू-मुस्लिम एकता

जिस देश में 'हिन्दू मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आपस में सब भाई-भाई के नारे लगाये जाते हैं, उस देश में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो भाई-भाई की हैसियत से मिलना तो दूर पड़ोसी की हैसियत से भी एक दूसरे से मिलना पसन्द नहीं करते। हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर आये दिन दंगे भड़काये जाते हैं। भारतवर्ष की विभिन्न समस्याओं में यह भी एक महत्वपूर्ण समस्या है जिसका समाधान खोजना आवश्यक है। यद्यपि मध्यकालीन समाज में कबीरादि सन्तों ने समदर्शिता के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करने का प्रयास किया। कबीर ने यह स्पष्ट किया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक ही सृष्टा है—

हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोई।

बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।<sup>74</sup>

कबीर सभी में समदर्शिता का भाव पैदा करके उन्हें समान धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। कबीर मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के पक्षपाती हैं। "वह हिन्दू-मुस्लिम, साम्प्रदायिक सोच से मनुष्य को नहीं देखते, दलितों, मज़दूरों, श्रमिकों को भी किसी भी प्रकार हीन या छोटा या ओछा करके न देखते हैं, न देखने की छूट देते हैं। जो ऐसी भेदवादी दृष्टि से देखते हैं, वे किसी भी दृष्टि से कबीर को और कबीर के राम को प्रिय नहीं हैं, बल्कि निंदा के पात्र हैं।"<sup>75</sup>

सन्त-साहित्य में विद्यमान उपरोक्त विशेषताएं मानवता के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये वह विशेषताएं हैं जो परम्परा से हटकर या पुरातन सिद्धान्त से भिन्न हैं। इसे ही हम सन्तों द्वारा की गयी मानवता की नयी व्याख्या कह सकते हैं। मानवता को नई दृष्टि देने

वाले सन्तों में कबीर का महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ० शिवाजी देवरे तथा भाऊ साहेब परदेशी का मानना है कि—“कबीर ने मानवता (Humanity) पर सबसे अधिक बल दिया। उन्होंने मनुष्य को विभाजित करके नहीं देखा। फिर वह हिन्दू हो या मुसलमान, सगुण हो या निर्गुण, वैष्णव हो या शैव। कबीर की सारी मान्यताएँ, सारे सिद्धान्त उनकी एकात्मकमूलक दृष्टि से उत्पन्न हैं। उन्होंने वही विचार दिए जो मनुष्य को एक करते हों। उन्होंने मानव धर्म मानव समाज की स्थापना की। जीवन-सत्य से साक्षात्कार कराया। उन्होंने मानव के लिए प्रेम से समान धरातल पर रहने का सर्वमान्य सिद्धान्त दिया है। मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा। मनुष्य का कल्याण हो यही उनके जीवन का मूल लक्ष्य था।”<sup>76</sup>

इस प्रकार मध्यकालीन समाज जिस समय धर्म, वर्ण एवं जाति की संकीर्ण भावनाओं से ग्रस्त मूल्यहीनता के दौर से गुज़र रहा था, उस समय कबीरादि सन्तों ने अपनी वाणी के माध्यम से इसका विरोध किया। नये मानव-मूल्य निर्धारित किये तथा मानवीय गरिमा को प्राथमिकता प्रदान की। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि धर्म, वर्ण एवं जाति के आधार पर कोई व्यक्ति छोटा या बड़ा नहीं है। सभी में एक ही दिव्य ईश्वर की ज्योति व्याप्त है। उत्पत्ति की दृष्टि से सभी समान हैं। इसी समानता के आधार पर कबीर ने धर्म, वर्ण एवं जातिगत पहचान का निषेध किया, मानव और मानवीयता की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। कबीर के अनुसार जो व्यक्ति ‘समतावाद’ का विरोधी है अथवा ऊँच-नीच का भाव रखने वाला है वह मानव नहीं बल्कि पशु-तुल्य है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वर्ण-व्यवस्था, जो उच्चता से निम्नता के क्रम में जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) विभाजन की एक व्यवस्था थी, इसमें तथाकथित निम्न जातियों का उच्च जातियों द्वारा अत्यधिक शोषण किया गया। वर्ण-व्यवस्था के बाद सामन्ती व्यवस्था ने भी इसका लाभ उठाया। सामन्ती शासकों ने अपने मनमाने व्यवहार से

जनता का शोषण किया। इस शोषण में ब्राह्मणों का हाथ था। वे सामन्तों के मनमानी व्यवहार को धर्म का जामा बड़े ही चतुरता से पहनाते थे। तत्पश्चात् उन्हें ठगने का कार्य करते थे। कुछ लोगों का मानना है कि सामन्तवाद की उत्पत्ति राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को भूमि-दान करने से हुई। ब्राह्मण जिसे उच्च कुल में उत्पन्न हुआ माना जाता था, उन्हें उद्योग-धन्धों से कोई मतलब नहीं था, राजा लोग इन्हें भूमि-दान कर दिया करते थे और ये लोग ही सामन्त के रूप में कार्य करने लगते थे। सामन्तों में स्वेच्छाचारिता अधिक थी। भूमि पर इनका एकाधिकार था। भूमि पर एकाधिकार होने के कारण वे अपने अधीन वर्गों से दासों एवं गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। फिर भी ये असहाय एवं अस्तित्वहीन लोग अपने परम्परागत व्यवसाय को करने के लिए विवश थे क्योंकि जाति-व्यवस्था की भाँति सामन्ती व्यवस्था में भी पेशों का चुनाव पूर्व निश्चित था। प्रत्येक व्यक्ति का पेशा जन्म के साथ ही निर्धारित हो जाता था और वह उसे अपना भाग्य समझ कर स्वीकार भी कर लेता था। किन्तु मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। वह भाग्य के भरोसे कब तक रह सकता है। उसने जाति-प्रथा पर आधारित सामन्ती व्यवस्था का विरोध किया साथ ही उद्योगों एवं बाजारों के विकास होने के कारण धीरे-धीरे उत्पादन प्रणाली भी बदलने लगी और व्यापारिक पूँजीवाद का जन्म हुआ। इस व्यवस्था में सामन्ती व्यवस्था की भाँति जातीयता के आधार पर कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार से प्रतिबन्धित नहीं था। इसका आर्थिक संगठन जातिगत न होकर व्यक्तिगत था। जिस व्यक्ति के हाथ में पूँजी होती थी वह अपना उद्योग-धन्धा चला सकता था और अपनी योग्यता एवं निपुणता का उपयोग कर अधिक से अधिक धन एकत्र कर सकता था। साथ ही इस एकत्रित धन का मालिक वह स्वयं होता था कोई जागीदार अथवा सामन्त नहीं। इस प्रकार जहाँ सामन्ती व्यवस्था में आदमी को व्यक्ति होने का अधिकार नहीं था, वह समूह में गिना जाता था, वहीं पूँजीवाद व्यवस्था



व्यक्ति पर ही केन्द्रित थी। इसमें जाति, धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं था। यह मानवीय गरिमा की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात थी।

किन्तु मध्यकालीन समाज में धर्म, वर्ण, जाति के चलते मानवीय गरिमा को अत्यधिक ठेस पहुँची थी। समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ पूर्णतया: अपने अधिकारों से वंचित एवं अस्तित्वहीन जीवन व्यतीत कर रही थीं। किन्तु ऐसे समय में कबीरादि सन्तों ने मानवीय गरिमा को प्राथमिकता प्रदान करते हुए उन्हें उनके अधिकारों के लिए जागृत किया। कबीर धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष समाज की कल्पना करते हैं। उनका हृदय विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत था। उनका मानना है कि उत्पत्ति की दृष्टि से सब समान हैं। अतः धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उच्चता एवं निम्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग स्वयं को धार्मिक मानते हैं और धर्म, वर्ण, जाति के नियमों का पालन करते हुए सिद्धि की इच्छा रखते हैं, वे अज्ञानी हैं क्योंकि सबसे बड़ी सिद्धि समानता का व्यवहार करने में है— 'आपा पर सब एक समान, तब हम पावा पद निरबाण'। कबीर ने ऊँच-नीच का व्यवहार करने वाले मनुष्य को पशु-तुल्य बताया है। पशु-तुल्य इसलिए कहा है क्योंकि भेद-भाव परक दृष्टि मानवीय व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आती। साथ ही इसकी आज्ञा न तो कोई धर्म देता है और न तो कोई कानून। यदि कोई व्यक्ति धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव करता है तो वह धर्म एवं कानून दोनों ही दृष्टि से अपराधी है। इसके लिए उसे दण्डित भी किया जायेगा क्योंकि अन्तिम निर्णय (माँगे न्याव खुदाई) इस सृष्टि के रचयिता का है, जो अवश्य ही न्याय करने वाला है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सभी के साथ समानता का व्यवहार करे। उसकी सिद्धि की व्यवस्था स्वतः ही हो जायेगी क्योंकि स्वर्ग का निर्माण वस्तुतः भूतल पर ही हुआ करता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीर ने विश्रृंखलित होते हुए जनसाधारण को सत्

मार्ग की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। उन्हें मानवता का पाठ पढ़ाया। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर भेदभाववादी दृष्टि का विरोध कर 'समतावाद' पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जैसे— ऐक्य में विश्वास, जाति भेद का विरोध, परहित साधन, निष्काम सेवा तथा हिन्दू—मुस्लिम एकता। कबीर द्वारा प्रतिपादित ये सिद्धान्त मानवता के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये वह सिद्धान्त हैं जो मानवतावाद के पुरातन सिद्धान्तों से हटकर हैं जो तत्कालीन परिस्थिति के लिए आवश्यक थे। कबीर ने मानव तथा मानवीयता पर नये सिरे से चिन्तन किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य इस संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मानव के रूप में जन्म पाना दुर्लभ है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सांसारिक माया—मोह में पड़कर इसे व्यर्थ ही न गंवाए बल्कि मानवोचित गुणों का विकास करके मनुष्य से मनुष्यत्व तथा मनुष्यत्व से देवत्व को प्राप्त कर ले। इसी में मानव तथा मानव निर्मित समाज दोनों का कल्याण निहित है।

सन्दर्भ :

1. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—(संग्रहकर्ता), कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021, पृ० 123, नागरीप्रचारिणी, काशी
2. सत्यमित्र दुबे—समाजशास्त्र एक परिचय, प्रथम संस्करण—1989, पृ० 257, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली
3. डॉ० संजीव महाजन—भारतीय समाज, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 43, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4821/24 प्रहलाद गली, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
4. वही, पृ० 45
5. वही, पृ० 9
6. डॉ० हेतसिंह बघेला—राजस्थान के इतिहास की रूपरेखा प्रारम्भ से 1949 तक, पुनर्मुद्रण—2005, पृ० 152, रिमर्च पब्लिकेशन्स, 89 त्रिपोलिया बाजार, जयपुर (राज)
7. उदयवीर शास्त्री (अनुवादक)—1988, पृ० 92, मेहरचन्द लक्ष्मनदास पब्लिकेशन्स, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।
8. मोहिनी माथुर—सामन्तवाद से लोकतन्त्र, प्रथम संस्करण—1995, पृ० 71–72, प्रिन्टवैल विशेष सहयोग द्वारा रूपा बुक्स प्रा०लि० एस०—12, शापिंग काम्पलेक्स तिलक नगर,, जयपुर
9. डॉ० कमलागुप्ता—हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद, प्रथम संस्करण—1979, पृ० 29, अभिनव प्रकाशन 21—ए, दरियागंज, नई दिल्ली
10. वही, पृ० 20
11. डॉ० श्यामसुन्दरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 121, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
12. वही, पृ० 40
13. रामविलास शर्मा—भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद खण्ड—2, प्रथम संस्करण—1982, पृ० 318, राजकमल प्रकाशन, प्रा०लिमि०, 8—नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली
14. डॉ० शम्भूलाल दोषी—भारतीय समाज संरचना और परिवर्तन, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 57, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, 33 चौड़ा रास्ता, जयपुर
15. डॉ० संजीव महाजन—भारतीय समाज, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 125, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4821/24 प्रहलाद गली, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

16. वही, पृ० 132
17. सत्यमित्र दुबे—समाजशास्त्र एक परिचय, प्रथम संस्करण—1989, पृ० 204, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली
18. डॉ० संजीव महाजन—भारतीय समाज, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 126, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस 4821/24 प्रहलाद गली, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
19. सत्यमित्र दुबे—समाजशास्त्र एक परिचय, प्रथम संस्करण—1989, पृ० 204, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली
20. वही, पृ० 204
21. डॉ० कृष्णा निगम—समाजशास्त्र के मूलतत्त्व, प्रथम संस्करण—1987, पृ० 391, देवर्षि प्रकाशन प्रा०लिमि०, वाराणसी
22. डॉ० तपन बिसवाल—मानवाधिकार जेन्डर एवम् पर्यावरण, प्रथम संस्करण—2008, पृ० 57, वीवा बुक्स नई दिल्ली
23. वही, पृ० 58
24. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 79, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
25. डॉ० कामता कमलेश (संपा०) हिन्दी अनुशीलन संयुक्तांक, मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर—1999, पृ० 213, भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद
26. विष्णु गोस्वामी (सं०) भक्ति साहित्य: एक पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण 1984, पृ० 67, गोबिन्द बनर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा
27. डॉ० कामता कमलेश (संपा०) हिन्दी अनुशीलन संयुक्तांक, मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर—1999, पृ० 106, भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद
28. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 53, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
29. विजय रंजन (संपा०) अवध—अर्चना श्रवण आश्विन वि०सं० 2059, कबीर अंक—अगस्त, अक्टूबर—2002, पृ० 27—28, अवध—अर्चना, प्रकाशन, फैजाबाद (उ०प्र० भारत)
30. वही, पृ० 11
31. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 82,

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

32. वही पृ० 253
33. वही, पृ० 33
34. वही, पृ० 203
35. डॉ० एम० फ़िरोज़ खान (संपा०)—नई सदी में कबीर, प्रथम संस्करण— 2007, पृ० 50, आकाश पब्लिकेशंस एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, ई-10/663, उत्तरांचल कालोनी लोनी बार्डर, गाजियाबाद
36. डॉ० कामता कमलेश (संपा०) हिन्दी अनुशीलन संयुक्तांक, मार्च, जून, सितम्बर, दिसम्बर— 1999, पृ० 213, भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद
37. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संपा०) कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, संवत् 2021 वि०, पृ० 102, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
38. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद, प्रथम संस्करण—जून 1984, पृ० 15, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़
39. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित (संपा०)—कबीर: चिन्तन और सर्जन, पृ० 4-5, मनीषी प्रकाशन, मेरठ
40. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 214, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
41. वही, पृ० 79
42. डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित (संपा०)—कबीर: चिन्तन और सर्जन, पृ० 8, मनीषी प्रकाशन, मेरठ
43. वही, पृ० 11
44. वही, पृ० 3
45. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संपा०) कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 203, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
46. डॉ० बलदेव वंशी—कबीर की चिन्ता, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 10, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली
47. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 37, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
48. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं० 2055 वि०, पृ० 72 कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5 कबीरचौरा मठ, वाराणसी

49. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद, प्रथम संस्करण—जून 1984, पृ० 34, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़
50. वही, पृ० 33
51. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वॉ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 133, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
52. वही, पृ० 179
53. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद, प्रथम संस्करण—जून 1984, पृ० 36, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़
54. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अगस्त 1963, पृ० 250, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
55. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (संपा०)—महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं० 2055 वि०, पृ० 54—55, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, श्री सद्गुरु कबीर मंदिर, सी-23/5 कबीरचौरा मठ, वाराणसी
56. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वॉ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 84, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
57. मैनेजर पाण्डेय—भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, संस्करण—1993, पृ० 33, वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नई दिल्ली
58. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संपा०) कबीर वचनावली, 12वॉ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 145, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
59. वही, पृ० 103
60. वही, पृ० 107
61. वही, पृ० 144
62. वही, पृ० 143
63. वही, पृ० 142
64. वही, पृ० 142
65. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद, प्रथम संस्करण—जून 1984, पृ० 163, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़

66. वही, पृ० 89
67. डॉ० श्यामसुन्दरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 203, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
68. डॉ० मुहम्मद अहसन—निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद, प्रथम संस्करण—जून 1984, पृ० 82, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट, अलीगढ़
69. डॉ० श्यामसुन्दरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 84, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
70. डॉ० शिवाजी देवरे, डा० भाउ साहेब परदेशी—कबीर: सृष्टि और दृष्टि, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 64, गरिमा प्रकाशन 128/106, जी—ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर
71. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संपा०) कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 137, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
72. डॉ० श्यामसुन्दरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24 वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 15, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
73. वही, पृ० 53
74. वही, पृ० 83
75. डॉ० बलदेव वंशी—कबीर की चिन्ता, प्रथम संस्करण—2002, पृ० 14—15, वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नयी दिल्ली
76. डॉ० शिवाजी देवरे, डा० भाउ साहेब परदेशी—कबीर: सृष्टि और दृष्टि, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 113—114, गरिमा प्रकाशन 128/106, जी—ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर

# अध्याय—पंचम

वैयक्तिक अस्मिता के आयाम :  
सामाजिक सरोकार से आध्यात्मिक  
पूर्णता तक



## अध्याय : पंचम

### वैयक्तिक अस्मिता के आयाम: सामाजिक सरोकार से आध्यात्मिक पूर्णता तक

कोई भी साहित्यकार अपने समाज का प्रतिनिधि होता है क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है और वह समाज से ही प्रभावित होकर काव्य-सृजन करता है। अतः उसका यह दायित्व बनता है कि वह अपने समाज और देश की नाड़ी को परखे उसकी धड़कन को समझे और फिर काव्य-सृजन करे।

कबीर का काव्य तो हर दृष्टि से अनुपम है। वे सामाजिकता और आध्यात्मिकता दोनों को साथ लेकर चले हैं। “उनकी लौकिकता को आध्यात्मिकता से विलग कर समझना एक तरह से उनके शक्ति-स्रोत और समष्टि दर्शन को ही काट देना है। उन्हें अध्यात्म से जो मिला वह जीवन ने पाया और जीवन से जो मिला उससे उनका अध्यात्म पुष्ट और सटीक हुआ। उनकी अध्यात्म वाणी लोक तक जाती है और लोक से अध्यात्म की ओर लौटती है।”

कबीर समाज की नब्ज को टटोलने में पूर्ण सफल रहे हैं। उन्होंने समाज में व्याप्त विकृतियों एवं विषमताओं को अत्यधिक सूक्ष्मता से देखा और परखा है। इसे सूक्ष्मता से देखने और परखने के पश्चात् ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि एक स्वस्थ एवं समन्वयशील समाज की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक प्रत्येक व्यक्ति में एकता का भाव न हो और ऐक्य-भाव उनमें तब तक नहीं पैदा किया जा सकता जब तक उन्हें सच्चाई का ज्ञान न हो जाय। अतः सच्चाई का सामना करवाने तथा एकता का भाव पैदा करने के लिए एक ऐसे सूत्र की आवश्यकता थी, जो जगत के विभिन्न रूपों में समन्वय स्थापित कर सके। कबीर ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सहज भक्ति-साधना अथवा आध्यात्मिकता का

सहारा लिया। अध्यात्म—चेतना या भक्ति मूलतः सामाजिक चेतना की सम्पूर्ण झंकृति लेकर चलती है। भक्ति विश्व—बन्धुत्व की भावना को जागृत करने में सहायक होती है। भक्ति के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है और विश्व कल्याणकारी भावना का उदय हो जाता है। अतः विश्व कल्याणकारी भावना का उत्स भक्ति चेतना में ही सन्निहित है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिकता एक ऐसा सूत्र है जो उपरोक्त आवश्यकता की पूर्ति करने में पूर्ण सक्षम है। किन्तु यह आध्यात्मिकता वास्तविकता के समीप होना चाहिए। अर्थात् वास्तविक अध्यात्म—चिन्तन ही एक स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है।

पीताम्बर दत्त बड़थवाल का मानना है कि निर्गुण सन्त कवियों ने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है। ये वास्तव में आध्यात्मिक महापुरुष थे। “इन के द्वारा व्यक्त किया गया धार्मिक भाव सीधा—सादा आडम्बरहीन एवं व्यापक है। परम्परागत धर्मों की व्यर्थ बातों की उपेक्षा करते हुए इन्होंने वास्तविक धर्म के मूल तत्व को सुस्पष्ट कर दिया है।”<sup>2</sup> जिस का सार कबीर के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

‘साँई सेती साँच चलि, औराँ सँ सुध भाइ।

भावै लंबे केस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ।<sup>3</sup>

कबीर ने अध्यात्म तत्व की प्राप्ति के लिए समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार के बाह्याडम्बरों को अस्वीकार कर मनसा, वाचा, कर्मना पर आधारित भक्ति साधना का उपदेश दिया है, क्योंकि पूर्ण निष्ठा के साथ की गयी भक्ति द्वारा मानव मन में विद्यमान समस्त विकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं और क्षमा, दया, सहनशीलता आदि समाज सापेक्ष गुणों का उदय होता है।

### 1. कबीर—काव्य में वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक अस्मिता का प्रश्न

“शास्त्र और सम्प्रदाय मनुष्य को सहज नहीं होने देते। ये भक्ति को भी आच्छादित

कर लेते हैं। कबीर ने इन शास्त्रों और सम्प्रदायों को नकार दिया। उनका धर्म सहज-धर्म था। उनका मार्ग सहज-मार्ग था। उन्होंने विभिन्न आडम्बरों, आवरणों के बीच से सही मनुष्य की खोज की है। मनुष्य सबसे बड़ा है—कोई बन्धन उसे छोटा और संकीर्ण नहीं कर सकता। कबीर ने उस मनुष्य को, जो महसूस करता है—जो ईश्वर का अंश है, ढूँढ़ निकाला। उन्होंने मानव-शरीर को बहुत महत्व दिया है। वे मनुष्य की सार्थकता पर जोर देते हैं, उसकी निस्सारता पर नहीं।<sup>4</sup> अतः कबीर-काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि 'मनुष्य' की प्रतिष्ठा है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने निम्न बिन्दुओं पर अपना विचार प्रकट किया—

1. उन्होंने बाह्यचारों को स्पष्ट अस्वीकार किया,
2. धर्म के नाम पर प्रचलित हर सम्भव अधर्म (विकृति) का तिरस्कार किया,
3. मनुष्य-मनुष्य के बीच पड़ने वाले प्रत्येक भेद की निन्दा की,
4. अन्तस्थ ईश्वर (कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूँढ़ै बन माहिं) के सन्धान का मार्ग बताकर बाहर भटकते हुए 'मनुष्य' को अपनी 'पहचान' की ओर प्रेरित किया।<sup>5</sup>

इस प्रकार कबीर ने समाज में प्रचलित प्रत्येक बाह्याडम्बरों को तिरस्कृत किया तथा व्यक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया और व्यक्ति की वैयक्तिक अस्मिता को ध्यान में रखते हुए वैयक्तिक साधना के मार्ग का निर्माण किया।

“किसी प्रधान उद्देश्य को ध्यान में लाकर उसके निमित्त कार्य संपन्न करने की क्रिया को बहुधा 'साधना' की संज्ञा दी जाती है।<sup>6</sup> किन्तु सामान्यतः दैनिक जीवन में किये गये प्रत्येक कार्य को 'साधना' का नाम नहीं दिया जा सकता। “साधना कहलाने योग्य अधिकतर वे ही कार्य होते हैं, जो दूसरे शब्दों में धार्मिक कृत्य वा कर्म भी कहलाते हैं और जो एक आध्यात्मिक जीवन में आवश्यक है।”<sup>7</sup>

आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक इस साधना के तीन मार्ग प्राचीन काल से ही प्रचलित रहे हैं ज्ञान मार्ग, योग मार्ग तथा भक्ति-मार्ग। जिसके माध्यम से साधक अपनी चतुर्दिक बिखरी चेतना को अन्तर्मुखी बनाकर जीवन के अन्तिम लक्ष्य की ओर केन्द्रित करता है।

कबीर ने इन तीनों मार्गों का प्रयोग अपनी वैयक्तिक अनुभूति पर व्यवस्थित एवं क्रमानुसार (ज्ञान-मार्ग-मन एवं बुद्धि को शुद्ध करने के लिए, योग-मार्ग-काया की शुद्धि एवं शक्ति संचय के लिए, भक्ति-मार्ग-मुक्ति प्राप्ति के लिए) किया है। अतः कबीर की साधना वैयक्तिक अनुभूति पर आधारित है। वे स्वयं उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'अपनी राह तू चले कबीरा' अतः "धर्म मूलतः व्यक्तिगत आन्तरिक साधना का विषय है। उसका आधार व्यक्ति का धर्म चिन्तन और स्वानुभूति ही हो सकता है।"<sup>8</sup> इस सम्बन्ध में डॉ० सावित्री शुक्ल कहती हैं कि—"सन्त कवियों के व्यक्तिगत विश्वास का मूलाधार और प्रमुख सिद्धान्त है कि मनुष्य को ब्रह्म पर सर्वथा निर्भर रहना चाहिए। जिस ब्रह्म ने संसार की सृष्टि की है, जो जगत् नियन्ता है, वह सबका परिपालन किसी न किसी प्रकार अवश्य करेगा।"<sup>9</sup> अतः मनुष्य को ईश्वर पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए तथा सामाजिक एवं धार्मिक बातों का अन्धानुकरण न करते हुए अनुभव को महत्व देना चाहिए। वैयक्तिक साधना के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि जब व्यक्ति सांसारिकता से पूर्णतया विमुक्त होकर ब्रह्म पर सर्वथा निर्भर हो जाता है तब वह साधना वैयक्तिक साधना कहलाती है, जो सामाजिक नियमों, विधि-विधानों से मुक्त स्वानुभूति पर आधारित होती है। अपनी अनुभूति पर किसी तथ्य को परखना कबीर के स्वभाव की विशिष्टता थी। बिना स्वानुभूति की कसौटी पर कसे हुए कबीर किसी भी ज्ञान को प्रमाणिक नहीं मानते। "वास्तव में कबीर साहब की विचार-पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर ही खड़ी है और इसी कारण ये जहाँ कहीं भी अवसर पाते हैं, वहाँ

निजी अनुभव के महत्व का गान करते नहीं अघाते और न कभी परावलंबन द्वारा प्राप्त तथाकथित ज्ञान की निंदा करने से ही चूकते हैं।<sup>10</sup>

इस प्रकार स्वानुभूति के पक्षधर कबीर की साधना का स्वरूप व्यक्तिगत है क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक विकास के लिए बाह्याडम्बरों का सहारा नहीं लिया बल्कि उन्होंने इन बाह्याडम्बरों, शास्त्रों, पण्डितों, पैगम्बरों और मुल्लाओं को ज़बरदस्त चुनौती दी तथा स्वानुभूति पर आधारित भक्ति-साधना को महत्व प्रदान किया जो अत्यन्त सहज एवं सरल थी। उनकी यह सहज भक्ति-साधना-हरि को भजे सो हरि का होई, पर आधारित थी। जिसमें न तो धर्म, जाति अथवा सम्प्रदायगत बातों के लिए को जगह थी और न ही किसी कर्मकाण्ड की कोई आवश्यकता। इस नवीन भक्ति-मार्ग का निर्माण करने के पीछे कबीर का एकमात्र उद्देश्य था-धर्म के वास्तविक स्वरूप की स्थापना कर मानवीय अस्मिता की रक्षा करना जोकि उस समय सामाजिक मूल्यहीनता के गर्त में कहीं खोती जा रही थी।

कबीर-काव्य पर एक सूक्ष्म दृष्टि डालने से हमें कबीरकालीन समाज की परिस्थितियों का अनुमान स्वतः ही हो जाता है। प्रथमतः यह कि भारतीय हिन्दू समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार जातियाँ निर्धारित की गयी थीं। इन सभी जातियों का विभाजन उच्चता से निम्नता के क्रम में किया गया था जिसके कारण निम्न जातियों की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो गयी थी। उनको समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा नगरों से बाहर रखा जाता था, यहाँ तक भगवान की भक्ति करने का भी अधिकार प्राप्त नहीं था। अर्थात् “वर्ण-व्यवस्था कुरूप हो गई थी। हिन्दू धर्मावलम्बी अपने ही अंग के कुछ वर्णों के प्रति भेदभाव और अस्पृश्यता का व्यवहार करते थे।... निम्न वर्ग कहे जाने वाले लोगों को धार्मिक उत्सवों और पूजा पाठ का अधिकार न था। वे मन्दिरों में नहीं जा सकते थे।”<sup>11</sup> जबकि “इसमें से प्रथम वर्ण की प्रतिष्ठा समाज

में युगों से होती चली आ रही थी, और वह वर्ग सम्मानित भी समझा जाता था। यह वर्ण एवं धर्म के नाम पर निम्न-वर्णों का शोषण कर रहा था और स्वयं कर्म एवं चरित्र से भ्रष्ट हो गया था।<sup>12</sup> उस समाज की दूसरी विशेषता यह थी कि हिन्दू एवं मुसलमान आदि सभी धर्म एवं सम्प्रदाय के लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने-अपने धार्मिक नेताओं का अन्धानुकरण कर रहे थे। साथ ही राम और रहीम की साधना अत्यधिक उग्र एवं तीव्र हो गयी थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों में परस्पर मतभेद था जिसके कारण भारतीय सांस्कृतिक एकता भी छिन्न-भिन्न हो रही थी। “कहने मात्र के लिए हिन्दू और मुसलमान एक साथ रहते थे, पर वास्तव में एक दूसरे के शत्रु बने हुये थे।<sup>13</sup>

अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीरकालीन समाज में चारों तरफ अव्यवस्था का बोलबाला था। सभी, कुत्सित भाव में ग्रस्त थे। चाहे वह पारस्परिक जातीय भेद-भाव हो अथवा सम्प्रदायगत हो। किन्तु विडम्बना यह थी कि व्यक्ति उसे ही धर्म का वास्तविक रूप मानकर धर्म तथा धार्मिक ठेकेदारों के हाथों की कठपुतली बना हुआ था। वह मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ, व्रत आदि बाह्य प्रभावों से अभिशप्त था तथा नरबलि, पशुबलि के द्वारा विपत्तियों को टालने में विश्वास करता था। इस प्रकार मनुष्य अपनी पहचान लगभग खो चुका था, जो कबीर जैसे मानवतावादी और उदार दृष्टि वाले समाज सुधारक के लिए असहनीय था। उन्होंने अपने तेज और शक्ति के बल पर बाहर भटकते हुए मनुष्य को उसनी प्रतिष्ठा की ओर प्रेरित किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ईश्वर एक है तथा सभी मनुष्य उस ईश्वर की सन्तान हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य भक्ति का अधिकारी है—धर्म, वर्ण जाति एवं शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर उनमें किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जा सकता और न ही ईश-साधना के लिए किसी भी कर्मकाण्ड की आवश्यकता है।

कबीर ने समाज में व्याप्त विभिन्न कर्मकाण्डों की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने

मन्दिर—मस्जिद, जप—तप, तीर्थ—व्रत आदि सभी बाह्याडम्बरों का विरोध किया है। वे कहते हैं कि—

का नाँगे का बाँधे चाम, जौ नहीं चीन्हसि आतम राम ।।  
 नांगे फिरै जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई ।।  
 मुँड मुड़ायै जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ।<sup>14</sup>

तथा

देव पूजि पूजि हिंदू मुये, तुरूक मुये हज जाई ।  
 जटा बांधि बांधि जोगी मुये, कापड़ी के दारौ पाई ।

X X X

जे नर जोग जुगति करि जाँनै, खोजै आप सरीरा  
 तिनकूँ मुकति का संसा नाही, कहत जुलाह कबीरा ।।<sup>15</sup>

“मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि कबीर को स्थूल कर्मकाण्ड इसलिये अस्वीकार्य था कि वह मानवकेन्द्रित नहीं है और मनुष्य को देवार्चन, मूर्ति—पूजा, विधिविधान आदि का अनुचर बना देता है। कबीर के अनुसार भक्ति साधना, का उद्देश्य है भक्त हृदय की प्रतिष्ठा और सिद्धि, मूर्तियों का प्रतिष्ठापन या विहित नियमों का पालन नहीं। उनकी वाणी में मानव—मात्र की स्वाभाविक मार्यादा के संरक्षण का भाव सदैव देखने को मिलता है। तीथार्तन, पूजन आदि मानव आत्मा को कुंठित कर देते हैं। हरि का दास इन स्थूल कार्य—कलापों से कहीं अधिक महत्व रखता है।<sup>16</sup>

अतः कबीर का यह विश्वास था कि हरि का दास किन्हीं स्थूल एवं औपचारिक साधनाओं से श्रेष्ठतर है—

झगरा एक नवेरो राम जे तुम्ह अपने जन सँ काँम ।।

ब्रह्म बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहाँ थैं आया ।

यह मन बड़ा कि जहाँ मन मानै, राम बड़ा कि रामहि जानै ।।

कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ।।<sup>17</sup>

इस प्रकार कबीर ने मनुष्य के केन्द्रीय महत्व को स्पष्ट किया है। कबीर के मतानुसार निश्चय ही मनुष्य का पृथक् अस्तित्व है। वह नगण्य नहीं है। मनुष्य स्वयं अपना विधायक है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक तथ्य का वह स्वयं विचार करे और स्वानुभूति के अनुसार ही उसे ग्रहण करे क्योंकि स्वानुभूति से ही सब कुछ सही-सही जाना जा सकता है। अतः बिना अनुभव के केवल कोरा ज्ञान व्यर्थ है। साथ ही स्वानुभूति से आत्मसन्तुष्टि भी मिलती है तथा 'जो अपनी साधना के फलस्वरूप शुद्ध-स्वरूप को जान लेता है वही सच्चा व्यक्ति है, विद्वान है और सच्चा ज्ञानी है—

कथता बकता सुनता सोई, आप बिचारै सो ग्यानी होई<sup>18</sup>

ब्रह्म ही सत्य ज्ञान है। किन्तु सत्य ज्ञान के लिए अनुभव की अपेक्षा है। जब व्यक्ति अपने अनुभूत भाव का उद्घाटन करता है तब वही आध्यात्मिक ज्ञान अथवा सत्य ज्ञान कहलाता है। अतः ज्ञान का प्रमाण स्वयं ही उत्पन्न होता है।

“सत्य ज्ञान स्वतः ही अपने को जानता है। वह स्वतः सामर्थ्यवान है। उसे बाहरी ज्ञान की अपेक्षा नहीं। उसकी प्रामाणिकता उसी में निहित है।”<sup>19</sup> इसीलिए कबीर जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि—

अपणें रूप कौं आपहिं जाँणें, आपैं रहे अकैला ।<sup>20</sup>

कबीर के अनुसार साधना पक्ष में ज्ञान की आवश्यकता है किन्तु यह स्वानुभूति पर आधारित होना चाहिए। “जिस ज्ञान में बुद्धि का प्रयोग है, जहाँ अंधानुकरण नहीं है, परन्तु जिसमें स्वानुभूति का पूर्ण संयोग है, वही ज्ञान ज्ञान है।”<sup>21</sup> यही कारण था कि कबीर ने



कभी-भी सामाजिक रूढ़ियों का अन्धानुकरण नहीं किया। कबीर कहते हैं कि—

पंडित मुल्ला जो लिखि दिया। छाड़ि चले हम कछू न लिया।<sup>22</sup>

अतः कबीर ने स्वानुभूति पर अधिक बल दिया है। इसका कारण यह भी था कि यह उनका स्वयं का अनुभव था—

करत बिचार मनहीं मन उपजी, नाँ कहीं गया न आया।<sup>23</sup>

अर्थात् मेरे स्वयं विचार करते-करते मन ही मन सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलब्धि हो गयी। अतः तुम यह मत समझो कि जो कुछ मैंने कहा है वह कविता मात्र है अपितु यह तो स्वानुभूति से प्राप्त ब्रह्म-ज्ञान एवं तत्त्व-दर्शन है—

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहू निज ब्रह्म विचार।

केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे।<sup>24</sup>

अतः स्पष्ट है कि सत्य की खोज के लिए स्वतन्त्र रूप से स्वानुभूति के आधार पर ही विचार किया जाए तो वह अधिक सफल होना सम्भव है, क्योंकि निजी अनुभव व्यक्ति की जिज्ञासा पर निर्भर होता है और एक जिज्ञासु व्यक्ति अधिक गहन चिन्तन करता है जिससे उसका अनुभव गहरा और विस्तृत होता चला जाता है। फलतः सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। “इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार धर्मतत्त्व का वास्तविक रूप सामूहिक वा साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकता है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य के स्वरूप का ज्ञान भी केवल उतना ही हो सकता है जितना उसके निजी अनुभव में आ सके। वेद कतेब वा अन्य मान्य ग्रन्थ उनके रचयिताओं के अपने अनुभव-विशेष पर ही अवलंबित हैं और वे भी उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं। यदि किसी अन्य व्यक्ति के भी विचारपूर्ण अनुभव में ठीक वैसी ही बातें आ सकें, तो कोई हानि नहीं, किंतु कोरे अन्धविश्वास के बल पर उन्हें वैसा मान बैठना अपने साथ भी छल व धोखा करने के समान

है।<sup>25</sup>

निःसन्देह कबीर सामान्य जनता को इस छल एवं धोखे से बचाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने निजी अनुभव पर बल दिया तथा बाह्याडम्बरो के अन्धानुकरण को व्यर्थ बताया है—

आत्म ज्ञान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी ।।

घर में वस्तु धरी नहीं सूझै, बाहर खोजत जासी ।

मृग का नाभि माहिं कस्तूरी, बन बन खोजत जासी ।।<sup>26</sup>

अतः आत्मज्ञान के बिना मथुरा, काशी आदि तीर्थ स्थानों का चक्कर लगाना व्यर्थ है। यह उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार कस्तूरी की तलाश में मृग जंगलों में भटकता रहता है। जबकि मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है किन्तु वह उसकी सुगन्ध से अभिभूत होकर उसे प्राप्त करने के लिए वन-वन में ढूँढ़ता फिरता है, उसी प्रकार आनन्द स्वरूप भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में निवास करते हैं। किन्तु जीव उस आनन्द के आभास से मुग्ध होकर उसे पूर्णरूप से प्राप्त करने की इच्छा से विभिन्न साधनाओं में भटकता है। वह अपने आप में अन्तर्मुखी होकर नहीं देखता जबकि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ही उसका निवास है—

मोको कहाँ ढूँढ़ों बंदे मैं तो तेरे पास में ।

X X X

ना मैं देवल ना मैं मसजिद न काबे कैलास में ।

X X X

कहैं कबीर सुनो भाई साधो सब साँसों को साँस में ।।<sup>27</sup>

अतः ईश्वर की तलाश में कहीं जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि अनुभव

करने की आवश्यकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को स्वानुभूति के अनुसार ही ब्रह्ममानन्द की प्राप्ति होती है—

ज्यों ज्यों भगति कबीर की त्यों त्यों राम निवास ।<sup>28</sup>

इस सन्दर्भ में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी कहते हैं कि— कबीर की साधना मन और शरीर की साधना है। उनकी भाव भगति भी अनुभव की ही भक्ति है। कबीर ने जो कुछ भी पाया था, वह आत्मानुभव और सत्संग से पाया था। अपने चारों ओर की परिस्थितियों को देखने और उन पर विचार करने के बाद सम्भवतः कबीर ने यही उचित समझा कि अनुभव पर आधारित तर्कमूलक सत्यों का बयान किया जाय और उनके आचरण पर जोर दिया जाय।<sup>29</sup> प्रायः ऐसा देखने को मिलता है कि शास्त्र और सम्प्रदाय मनुष्य को सहज नहीं होने देते थे, भक्ति को भी आच्छादित कर देते हैं। इसी कारण कबीर ने इन शास्त्रों और विभिन्न सम्प्रदायों को अस्वीकार स्वानुभूति पर आधारित सहज मार्ग कर निर्माण किया।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति (अशरफुल मुखलूकात) है। किन्तु मध्ययुगीन समाज में वह अपना अस्तित्व खोता जा रहा था। एक ओर वर्ण-व्यवस्था ने निम्न जातियों को पशुवत जीने के लिए विवश कर दिया था, कोई भी कार्य उनकी इच्छा के अनुसार नहीं होता था। वे अधिकारविहीन एवं अस्तित्वहीन जीवन व्यतीत कर रहे थे तो दूसरी ओर समाज में प्रचलित विभिन्न बाह्याचारों ने धर्म के पवित्र एवं वास्तविक रूप को आच्छादित कर दिया था। जिसके कारण सभी पथ-भ्रष्ट होकर भटकते फिर रहे थे। वे धूनी रमाने, भभूति लगाने, जटा धारण करने और मूड़ मुड़ाने को ही धर्म समझने लगे थे। सम्पूर्ण समाज बाह्याडम्बरों के पालन में ही जीवन को धन्य मान रहा था। ऐसे समय में कबीर ने मनुष्य को मनुष्यत्व की पहचान करायी। उन्होंने कभी-भी ऊँच-नीच,

भेद-भाव जैसी सामाजिक विसंगतियों, मूल्यहीनताओं विडम्बनाओं को नहीं स्वीकारा बल्कि उन्हीं के बीच से मनुष्य केन्द्रित नवीन मार्ग का निर्माण किया और स्वानुभूति पर आधारित वैयक्तिक भक्ति साधना को महत्व प्रदान किया।

## 2. कबीर के सामाजिक सरोकार और वैयक्तिक भक्ति साधना का अन्तःसंघर्ष

जब व्यक्ति सांसारिकता से पूर्णतया विमुख होकर ब्रह्म पर सर्वथा निर्भर हो जाता तब वह साधना वैयक्तिक भक्ति साधना कहलाती है जो सामाजिक नियमों, विधि-विधानों से मुक्त स्वानुभूति पर आधारित होती है। किन्तु यहाँ पर कबीर के सामाजिक सरोकार और वैयक्तिक भक्ति साधना के अन्तःसंघर्ष की बात कही जा रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्या कबीर की वैयक्तिक भक्ति साधना का अर्थ समाज से पूर्णतया अलग होकर मात्र ब्रह्म-साधना में ही लीन रहना है? कबीर के विषय में ऐसे प्रश्न का उठना स्वाभाविक है क्योंकि कबीर जब मनुष्य को भक्ति का उपदेश देते हैं उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में यह संसार भ्रम में डालने वाला एवं पूर्णतया महत्वहीन हैं—

‘यहु ऐसा संसार है जैसा सैबल फूल।

दिन दस के व्योहार को, झूठै रंगि न भूल।<sup>30</sup>

अर्थात् यह संसार ‘सेमर के फूल’ की भाँति तत्त्वहीन, क्षण स्थायी एवं भ्रम में डालने वाला है। साथ ही कबीर ने जीवन को भी बादलों के समान निस्सार बताया है तथा हरि भक्ति के बिना इसे व्यर्थ सिद्ध किया है—

कबीर हरि की भगति बिन, धिग जीमण संसार।

धूँवाँ केरा धौलहर, जात न लागै बार।<sup>31</sup>

इसी प्रकार कबीर ने कुटुम्ब की रक्षा करने को निजी स्वार्थ की संज्ञा दी है—

रामनाम जाण्या नहीं, पल्यो कटक कुटुंब।

धंधा ही में मरि गया, बाहर हुई न बंब।।<sup>32</sup>

अतः कबीर के मतानुसार संसार से नाता तोड़ने के बाद ही भक्ति सम्भव है—

जब लग नाता जगत का तब लग भक्ति न होय।

नाता तोड़ै हरि भजै भक्त कहावै सोय।।<sup>33</sup>

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य मात्र ब्रह्म साधना है समाज से उसका कोई सरोकार नहीं है। जबकि यह सत्य नहीं है क्योंकि कबीर-काव्य के अनुशीलन से पता चलता है कि कबीर ने समाज की विविध गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है जो उनके काव्य में पूर्णतया परिलक्षित भी होता है। अतः जहाँ एक ओर वे मनुष्य को नश्वर जगत से विराग तथा सांसारिकता से विमुख होकर वैयक्तिक भक्ति साधना का उपदेश देते हैं वहीं दूसरी ओर उनमें समाज निर्माण की भावना भी विद्यमान थी। इस बात का समर्थन करते हुए डॉ० आर्याप्रसाद त्रिपाठी कहते हैं कि यद्यपि “कबीर व्यक्तिगत साधना के प्रबल हिमायती थे, किन्तु उनकी व्यष्टिपरक मनीषा समष्टिगत परिष्कार एवं सर्वधर्म समन्वय के व्यवहारिक प्रयोगों की उपेक्षा नहीं करती। कबीर की भक्ति व्यक्ति को सदाचरण तथा सहजशील द्वारा उसके व्यक्तित्व में विकास करके उसे लोक संग्रहार्थ, निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देती है।<sup>34</sup>

इस सन्दर्भ में डॉ० प्रहलाद मौर्य भी अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि—  
“अहं का त्याग, नश्वर संसार से विराग तथा सांसारिकता से बिमुख होकर भक्ति करने का उनका अभिप्राय यही है कि कोई किसी का शोषण न करे, कोई किसी के प्रगति में बाधक न बने। सबको जीने, रहने का समान अधिकार मिले।...वे अपने लिए नहीं बल्कि पूरे समाज के लिए भक्ति करते थे। इसीलिए वे कोरे पाण्डित्य का खण्डन कर आत्मानुभूत व्यवहार का प्रचार कर रहे थे।”<sup>35</sup> उनका यह दृढ़ विश्वास था। वे जानते थे कि समाज सुधार की

पहली प्राथमिकता है प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा को समान समझना। “बिना आत्म अनुभव के कोई भी समाज सुधर नहीं सकता। जिस समाज में आत्मानुभव नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है। वह समाज निर्जीव है। जब तक समाज के हर एक व्यक्ति अपने आप में नहीं जागेंगे, अपने आप में नैतिकता का रूप नहीं लायेंगे तब तक समाज का सुधार होना असम्भव है।”<sup>36</sup> इसलिए कबीर कहते हैं आत्मा को चीन्हें तभी नर में नारायण का दर्शन पा सकते हो। स्त्री पुरुष सभी में आत्मा है। सभी में ईश्वर है।

एते औरत मरदा साजै ये सब रूप तुमारे।<sup>37</sup>

आत्मदृष्टा समाज को अभेद रूप से देखता है क्योंकि आत्म ज्ञान के फलस्वरूप काम, क्रोध, लालच आदि आन्तरिक कलुषता समाप्त हो जाती है तथा धर्म, सम्प्रदाय एवं जातिगत भिन्नता भी मिट जाती है—

कामी क्रोधी लालची इन तें भक्ति न होय।

भक्ति करै कोई सूरमा जाति वरन कुल खोय।<sup>38</sup>

कबीर इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि मनुष्य ही इस समाज का कर्ता-धर्ता है। वही इस समाज के वातावरण को निर्मित करता है। इसी कारण “कबीर की दृष्टि व्यक्ति पर केन्द्रीभूत थी। उनका लक्ष्य था व्यक्ति के सुधार द्वारा कुत्सित और अधः पतित जनता में क्रांति स्थापित करके उसे उन्नत दिशा की ओर ले जाना। व्यक्ति का सुधार ही समष्टि के सुधार का आधार होता है।”<sup>39</sup> इसलिए कबीर ने एक व्यक्ति का जीवन आदर्श क्या होना चाहिए? इसे समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—

कबिरा आप ठगाइए और न ठगिए कोय।

आप ठगा सुख होत है और ठगे दुख होय।<sup>40</sup>

‘साँई’ इतना दीजिये जामें कुटुंब समाय।

मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।।<sup>41</sup>

कबिरा सो धन संचिए जो आगे को होय।

सीस चढ़ाए गाठरी जात न देखा कोय।।<sup>42</sup>

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।

जो दिल खोंजों आपना मुझ सा बुरा न होय।।<sup>43</sup>

अतः स्पष्ट है कि एक स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए व्यक्तिगत स्तर पर सुधार आवश्यक था। इस आवश्यक कार्य की पूर्ति के लिए कबीर ने अध्यात्म का सहारा लिया क्योंकि जो सच्चा साधक होता है वह कभी-भी किसी के सुख में बाधक नहीं हो सकता। कबीर कहते हैं कि—

निरबैरी निहकाँमता, साँई सेती नेह।

विषिया सँ न्यारा रहै, संतहि का अँग एह।।<sup>44</sup>

अर्थात् अशत्रुता, निष्कामता, ईश्वर-प्रेम विषयों के प्रति वैराग्य ये ही सन्तों के लक्षण होते हैं। अतः “ईश्वरीय प्रेम जहाँ एक ओर संसार के प्रति उपेक्षा सूचित करता है वहाँ दूसरी ओर अपने सहजीवी प्राणियों के प्रति स्नेह भी उत्पन्न करता है।<sup>45</sup> उसके हृदय में विद्यमान ईर्ष्या-द्वेष, वैर-भाव, स्वार्थ-भावना, मानसिक कालुष्य एवं लोलुपता की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। छुआछूत, ऊँच-नीच आदि का भाव मिट जाता है। यह कबीर का स्वयं का अनुभव था कि जब मैंने आपा एवं पर की समानता का अनुभव कर लिया तो निर्वाण भी पा लिया—

आपा पर सब एक समान, तब हम पावा पद निरबौण।<sup>46</sup>

कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मनुष्य समाज की विषमता को भुलाकर जीव की एकता एवं समानता के भाव को अपना ले।

इसी कारण कबीर ने सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि विभिन्न धर्मों, जातियों तथा वर्णों में विभक्त मानव समुदाय मूलतः एक ही है। सभी एक ही परम पिता की सन्तान है। सब का मूल तत्व एक ही है—

माटी एक भेष धरि नाँनाँ, सब मैं ब्रह्म समानाँ।<sup>47</sup>

कबीर ने अपने वैयक्तिक अनुभूति के बल पर इस सत्य को जान लिया था। किन्तु अन्य साधारण जन इस सत्य से अनभिज्ञ थे। वे पाखण्ड, बाह्याडम्बर, छुआछूत तथा ऊँच-नीच आदि सामाजिक रूढ़ियों के मकड़जाल में फंसे अपना जीवन व्यर्थ ही गंवा रहे थे। इसलिए “परमात्मा ने ही यह उचित समझा कि कबीर ने जो कुछ अनुभव किया है उसे भी प्रकट कर दे। जीव संसार के समुद्र में मग्न है और जो कोई भी इसे पकड़ लेगा। वह पार हो जायेगा।<sup>48</sup>

कबीर अपनी इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने के लिए जीवन पर्यन्त प्रयत्नशील रहे। उन्होंने समकालीन समाज में व्याप्त कुत्सित विचारों बाह्याडम्बरों, धर्म के नाम पर अनाचार की लीला करने वाले धार्मिक ठेकेदारों आदि के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने उन समस्त सामाजिक रूढ़ियों का ज़बरदस्त खण्डन किया जो मानव कल्याण के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रही थीं। उन्होंने पण्डित-मुल्ला की लिखी हुई बातों को साफ इन्कार कर दिया तथा भक्ति को जीवन का अभिन्न अंग बताकर मनुष्य को एक नयी दृष्टि प्रदान की। “कबीर के अनुसार भक्ति जीवन में ऊपर से आरोपित कोई आदर्श नहीं है। बल्कि यह सहज है। .. भक्ति से आत्मीयता का भाव जागता है। मनुष्य मनुष्य से प्रेम करता है।... इसलिए कबीर भक्ति को जीवन का सार्थक रूप मानते हैं।... भक्ति से मनुष्य ब्रह्म साक्षात्कार का सुख



पाता है। वह ब्रह्म के आनन्द रूप का अनुभव करता है। यही सुखानुभूति ब्रह्मानन्द है। सुख जीवन का मूल है। सुख से अलग होना जीवन से अलग होना है।<sup>49</sup>

इस प्रकार कबीर ने भक्ति को जीवन का अभिन्न अंग स्वीकार किया है। मानव जीवन के लिए भक्ति वह प्रकाश पुन्ज है जो मानव मार्ग को सदैव ही प्रकाशित करता रहता है। सावित्री शुक्ल कहती हैं कि 'भक्ति' हृदय की उस द्विव्य एवं उदात्त भावना का नाम है, जिसमें साधक जहां एक ओर पूर्ण भाव से परब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला हो, वहां साथ ही ब्रह्म द्वारा विरचित इस समस्त सृष्टि के प्रति सेवा की भावना से सम्पन्न भी हो।'<sup>50</sup> इसी भाव से प्रेरित होकर ऋग्वेद में कहा गया है कि—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषां सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।<sup>51</sup>

ब्रह्म के चरणों में पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देने वाला वेद का भक्त परस्पर मैत्री-भाव की कामना करता है। वह कहता है कि मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखने वाले हों। अतः स्पष्ट है कि भक्ति में त्याग एवं सेवा-भाव का गुण स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। 'प्रभु के मार्ग में अपने आपको मिटा देने का तात्पर्य व्यवहार में यही होता है कि मनुष्य किसी त्याग के अवसर पर अपने को दूसरों के लिए उपयोगी सिद्ध कर दे। जो वास्तविक ज्ञानी होता है वह अपने लिए तो मरता है परन्तु दूसरों के लिए जीवित रहा करता है।'<sup>52</sup> अतः कबीर का यह सन्देश है कि सत्संगी द्वारा हृदय को निर्मल करो, सभी की निष्काम भाव से सेवा करो, सेवक की उस सेवा में ही मुरारि के दर्शन होंगे और इस भाँति भक्ति करना ही सच्ची भक्ति है—

कहै कबीर हरि गुण गाइ लै, सत संगति रिदा मँझारि।

जो सेवग सेवा करै, तो सँग रमैं रे मुरारि।<sup>53</sup>

अतः भक्ति का वास्तविक अर्थ सेवा-भाव ही है और सेवा-भाव का जन्म प्रेम के उपरान्त होता है इसलिए कबीर ने प्रेम को अत्यधिक महत्व दिया है। प्रेम से ही सहानुभूति होती है। प्रेम से ही मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध दृढ़ होता है। इसी कारण वे शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को पण्डित की संज्ञा नहीं देते, बल्कि प्रेम के ढाई अक्षर जानने वाले को पण्डित कहते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।

एकै अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।<sup>54</sup>

वस्तुतः प्रेम और भक्ति ऐसा गुण है जिसे पाकर मनुष्य स्वयं महान् बन जाता है और पूरी मानवता का उद्धार करता है, इससे व्यक्ति का ही नहीं बल्कि समष्टि का विकास होता है। इसी कारण कबीर प्रेम और भक्ति पर अत्यधिक जोर देते हैं जिससे ये सारे भेद दूर हो जाएँ। सभी परस्पर समानता का व्यवहार करे। यह तभी सम्भव है जब उनमें आध्यात्मिकता का बीज अंकुरित हो जाये क्योंकि ऊँच-नीच, भेद-भाव आदि कुत्सित भावनाओं से केवल भक्ति जन ही बच पाते हैं—

ऊँच नीच सम सरिया, ताथैं जन कबीर निसतरिया।।<sup>55</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि निःसंदेह कबीर वैयक्तिक भक्ति-साधना के प्रबल समर्थक थे किन्तु उनमें लोक-कल्याण की भावना भी कूट-कूट कर भरी हुई थी। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लोक-कल्याण की भावना से ही प्रेरित होकर उन्होंने प्रत्येक मनुष्य में आध्यात्मिकता का बीज अंकुरित करने का निश्चय किया था क्योंकि ईश्वरी प्रेम रूपी जल से मानव हृदय के समस्त पापों का प्रच्छालन स्वतः ही हो जाता है। उनके मन में किसी के प्रति बैर-भाव नहीं रह जाता। इसी कारण कबीर ने उसे निरबैरी, निहकांमता,

कहा है। अतः ईश्वर से प्रेम करने वाला व्यक्ति अथवा सच्चा साधक समाज के लिए कभी-भी बाधक नहीं सिद्ध हो सकता। अतएव कबीर ने वैयक्तिक भक्ति साधना के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य में समाज सापेक्ष मूल्यों का विकास करके लोक कल्याण की भावना जागृत करने का प्रयत्न किया।

### 3. नारी के प्रति कबीर की दृष्टि और प्रेम की अवधारणा

शास्त्रों में यह कहा गया है कि —

यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते स्वास्तत्रफलाः क्रिया।

अर्थात् जिस घर में स्त्रियों का आदर होता है, उस घर में देवता रमण करते हैं। जहाँ इनका सम्मान नहीं होता, वहाँ सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं। इस प्रकार भारतीय नारियों को गृहलक्ष्मी<sup>1</sup> कहकर हमारे आचार्यों ने उन्हें सम्मानित किया। किन्तु जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती गयीं, लोगों की मानसिकता में भी बदलाव आया। जहाँ पूर्व में यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्रदेवताः कहा गया था वहीं आगे चलकर 'नारी नसावै तीनि सुख', 'ढोल गंवार, शूद्र, पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' तथा 'अबला जीवन हाय तेरी यही कहानी' कहकर एक ओर उनकी मान-मर्यादा को ठेस पहुँचायी गयी तो दूसरी ओर विनम्रता, सहनशीलता, तपस्या, तथा त्याग आदि मानवीय विशेषताओं की विद्यमानता को उनकी कमजोरी बताकर दुख प्रकट किया गया जो असंगत मालूम पड़ता है क्योंकि न ही उनकी वास्तविक प्रकृति सुख-विनाशकारी होती है जिसके कारण उन्हें क्लेश या पाप का कारण बताया जाय और न ही वे इतनी दुर्बल होती हैं कि उन्हें अबला कहकर दुःख प्रकट किया जाए बल्कि—“जब कभी स्त्रियों को अवसर मिला है, उन्होंने दिखला दिया है कि वे पुरुष की शिक्षिका और गुरु भी बन सकती हैं। संसार के किसी भी काम में स्त्रियाँ

अपनी नैसर्गिक निर्बलता के कारण पीछे नहीं रह सकती, अगर पुरुषों का अत्याचार इन पर न हो।<sup>56</sup> अतः यदि स्त्रियों को अबला, पाप का कारण या फिर पुरुष-सुख को नाश करने वाली बताया गया है तो इसे हम मात्र लोगों की बदलती हुई मानसिकता अथवा कुछ अंशों में बदलती हुई सामाजिक परिस्थिति का परिणाम कह सकते हैं, अन्यथा आधुनिक युग की नारी ने प्रत्येक क्षेत्र में अपना सर्वोपरि स्थान बना लिया है, बल्कि वे आज पुरुषों से भी आगे निकल गयी है।

### नारी के प्रति कबीर की दृष्टि

कबीरकालीन समाज राजनीतिक धार्मिक तथा सामाजिक आदि सभी दृष्टि से अव्यवस्थित था। राजनीतिक क्षेत्र में आक्रमण षड़यन्त्र और कूटनीति का बोलबाला था तो धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायों एवं मत-मातान्तरों की जंग छिड़ी हुई थी तथा समाज हिन्दू और मुसलमान दो भागों में विभाजित सामन्ती व्यवस्था का शिकार था। इस प्रकार कबीरकालीन समाज अत्यन्त जटिल अन्धकारमय एवं अव्यवस्थित था। यहाँ पर 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' की कहावत चरितार्थ हो रही थी। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को भी इससे अलग नहीं किया जा सकता। वे भी ऐसे वातावरण में धीरे-धीरे आदर्शहीन एवं कुत्सित मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे थे। जबकि कबीर एक आदर्शवादी व्यक्ति थे तथा वे भारतीय नारी के आदर्शों से भली-भाँति परिचित थे। उर्मिला, सीता, सावित्री आदि भारतीय नारियाँ आदर्श के उच्च शिखर पर सदैव से प्रतिष्ठित रही हैं। कबीर के मन-मस्तिष्क में भी ऐसी ही पतिव्रता, सुलक्षण तथा सुचरित्र नारियों की तस्वीर थी जिसे वे यथार्थ रूप में देखना चाहते थे। डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त के मतानुसार "कबीर ऐसी सती के तलाश में थे जो जौहर करना जानती हो सतीत्व की रक्षा के लिये। कबीर ऐसी नारी के पूजक थे जो अपने पति के अतिरिक्त किसी और को न सोच सके— जो उसी को सुमिरे

और उसी के साथ रमे।<sup>57</sup> इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्येक पत्नी को अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित होना चाहिए अन्यथा वह चरित्रहीन कहलाएगी जो भारतीय नारियों के लिए अत्यधिक शर्मनाक बात है। कबीर द्वारा की गयी नारी निन्दा का कारण भी नारी की चरित्रहीनता ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या नर और नारी की चरित्रहीनता की पहचान अलग-अलग है अथवा एक ही। यदि कोई स्त्री पर-पुरुष को किसी भी प्रकार से आकर्षित करती है या फिर उसके साथ अवैध संबंध स्थापित करती है तो वह निःसंदेह चरित्रहीन है। किन्तु अब हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि यदि स्त्री का किसी पर-पुरुष के साथ स्थापित किया गया सम्बन्ध अवैध है तो उसी स्त्री के साथ पर-पुरुष के द्वारा स्थापित हुआ सम्बन्ध वैध कैसे हो सकता है। अतः दोनों ही बराबर के दोषी हैं अथवा दोनों ही चरित्रहीन हैं।

कबीर ने उपर्युक्त विषय पर विस्तार से चर्चा की है। उनकी इस चर्चा का विषय नर-नारी दोनों ही हैं। फिर भी कबीर को नारी निन्दक कहा जाता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यदि कबीर-काव्य पर एक दृष्टि डाली जाय तो थोड़ी असमानता अवश्य दिखायी पड़ती है। उदाहरणस्वरूप जहाँ पर गाँधी जी ने समाज में व्याप्त इस लज्जाजनक स्थिति को देखकर यह कहा कि “मुझे यह मंजूर है कि पुरुष जाति का नाश हो जाय, मगर यह मंजूर नहीं कि भगवान की पवित्रतम् सृष्टि को अपनी वासना का शिकार बनाकर हम पशुओं से भी गये बीते बन जायं।”<sup>58</sup> वहीं कबीर ने ‘नारी नसावै तीन सुख’, ‘माया महा ठगिन हम जानी’ तथा ‘कांमणि काली नागणी, तीन्यू तीनों लोक मंझारि’ कहा है। किन्तु इसका तात्पर्य यह बिल्कुल भी नहीं कि कबीर ने जो कुछ भी कहा है वह पूर्णतया असत्य है या बेबुनियाद है बल्कि कबीर के ऊपर जो नारी निन्दक होने का आरोप है वह मात्र उनके

दृष्टिकोण में अन्तर के कारण लगाया जाता है अन्यथा जहाँ एक ओर 'नारी नसावै तीन सुख' कहकर कबीर ने नारी की निन्दा की है वहीं 'पतिव्रता मैली भली' कहकर उसकी प्रशंसा भी की है।

अतः कबीर ने उन्हीं नारियों की निन्दा की है जो पथ-भ्रष्ट हैं, चरित्रहीन हैं अथवा जो पुरुष के मार्ग में बाधा बनकर सामने आती हैं। वे अपनी सम्मोहन शक्ति से पुरुषों को इस प्रकार पथ-भ्रष्ट करती हैं कि वे ज्ञान, भक्ति, मुक्ति आदि सभी कुछ भूल जाते हैं—

नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासै होइ।

भगति मुक्ति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ।<sup>59</sup>

कबीर का मानना है कि नारी में मन रमाने से किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त होने वाली नहीं। अतएव वे लोगों को नारी से दूर रहने की सलाह देते हैं—

नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग।

कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी को संग।<sup>60</sup>

कबीर कहते हैं कि नारी से दूर रहने में ही पुरुष की भलाई है क्योंकि जो मनुष्य एक बार उसके निकट जाता है फिर वहाँ से वापस आना उसके लिए कठिन हो जाता है क्योंकि कामिनी और कंचन दो ऐसे विष-फल हैं जिनके दर्शन मात्र से ही मोह का नशा चढ़ जाता है। इनके उपयोग से तो व्यक्ति नष्ट ही हो जाता है—

एक कनक अरु काँमनी, विष फल कीएउ पाइ।

देखै ही थे विष चढ़े, खायै सँ मरि जाइ।<sup>61</sup>

अतः कबीर इस बात का बार-बार स्पष्टीकरण करते हैं कि नारी के प्रति पुरुष की आसक्ति उसके लिए घातक है। उन्होंने इसे शूली से भी अधिक घातक बताया है। वे कहते हैं कि शूली पर चढ़ने के पश्चात् कुछ बिरले लोगों के बचने की आशा की जा सकती है। किन्तु कामिनी के घात से तो कोई भी नहीं बच सकता। वह उसी प्रकार जलकर भस्म हो

जाता है जिस प्रकार आग के पड़ा हुआ लोहा जलकर कोयला बन जाता है—

‘सुंदरि थे सूली भली, बिरला बचै कोय ।

लोह निहाला अगनि में, जलि बलि कोइला होय ।।<sup>62</sup>

अतः इससे बच पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि देखे ही ते विष चढ़े अर्थात् देखते ही मोह का नशा छा जाता है और वे नशे में चूर होकर अनायास ही उसके ओर बढ़ते चले जाते हैं। जो इस तथ्य से अनभिज्ञ है, उन्हें भोग के इस गर्त में डूब कर नष्ट हो जाना है—

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत ।

केते अजहूँ जायसी, नरकि हसंत हसंत ।।<sup>63</sup>

अतः कबीर के मतानुसार नारी, पुरुष के लिए पथ-बाधक सिद्ध होती है। एक बार नारी में आसक्त होने के पश्चात् व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है और उसके लिए भक्ति, मुक्ति तथा ज्ञान में प्रवेश कर पाना असम्भव हो जाता है, इतना ही नहीं बल्कि धीरे-धीरे उसकी बुद्धि, विवेक तथा अन्य सभी शक्तियाँ भी अपहृत होती चली जाती हैं और इससे उनकी कोई कार्य-सिद्धि भी नहीं होती—

नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबही हरै ।

काँइ गमावैं देह, कारिज कोई नाँ सरै ।<sup>64</sup>

कबीर नारी निन्दा करते समय एक स्थल पर यह भी स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि नारी में अत्यधिक सम्मोहन शक्ति होती है, वह जब चाहे किसी को भी अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है। किन्तु वह ऐसा कदापि नहीं करती। वह स्वयं को अत्यधिक संयम एवं नियन्त्रण में रखती है। उसका प्रभाव उन लोगों पर ही पड़ता है जो स्वयं उसके निकट जाते हैं—

काँमणि मीनीं पाणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ ।<sup>65</sup>

इस दोहे में प्रयुक्त 'जे छेड़ों तो खाई' पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि इस पाप-कर्म को करने के लिए पहला कदम पुरुष उठाता है। अतः कबीर ने नारी के साथ-साथ पुरुष को भी कई स्थलों पर दोषी ठहराया है। उन्होंने यदि नारी के सम्मोहन शक्ति को उसका अवगुण बताया है तो पुरुष का उसमें अनुरक्त होने के स्वभाव को गुण कदापि नहीं कहा है—

पर नारी कै राचणै, औगुण है गुण नाँहि।<sup>66</sup>

इस प्रकार कबीर ने देह-वासना से युक्त नर नारी दोनों को ही नरक-रूप बताया है—

नर नारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम।<sup>67</sup>

### प्रेम सम्बन्धी अवधारणा

जीवन में प्रेम की भावना ही उच्च एवं प्रधान है। यह हृदय विषयक भावना अत्यधिक पवित्र होती है। अतः मानव हृदय की पवित्र भावनाओं के संग्रह का नाम प्रेम है। विद्वानों द्वारा इसकी भाषा शब्दरहित बतायी गयी है। यह भावों द्वारा व्यक्त की जाने वाली वस्तु है। इसमें वह शक्ति होती है जिससे मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध दृढ़ होता है। इस दृढ़ सम्बन्ध के साथ वह सम्पूर्ण मानवता का उद्धार करने में सक्षम होता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस प्रेम की अवधारणा को जितने आकर्षक ढंग से कबीर ने प्रस्तुत किया उतने आकर्षक ढंग से अन्य कोई भी साहित्यकार नहीं कर पाया है। उनका सम्पूर्ण काव्य प्रेम रस में डूबा हुआ है। कबीर की साखियों में प्रेम का व्यापक वर्णन पाया जाता है। यह प्रेम जल और मीन स्वाती और चातक के रिश्ते का है, इसका नशा मदिरा से भी अधिक मतवाला बना देने वाला है। उन्होंने प्रेम के माध्यम से ही ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाकर सम्पूर्ण समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। कबीर ने जिस प्रेम



की स्थापना की है, वह उदात्त एवं मानवीय जीवन का प्रेम है। इस प्रकार के प्रेम की अनुभूति की जा सकती है। उसे जीवन में उतारा जा सकता है। जिस प्रेम में संवेदना न हो, जिसे अनुभव न किया जा सके, वह कबीर का आदर्श प्रेम नहीं हो सकता। उन्होंने प्रेम के जितने रूपों की चर्चा की है, वे सभी इसी जीवन में प्रतिफलित हो सकते हैं किसी कल्पित लोक में नहीं। कबीर ने प्रेम के इस अनुभव सत्य को विविध रूप तथा विविध सम्बन्धों में अभिव्यक्त किया है। कबीर के लिए मनुष्य विषयक प्रेम ही भक्ति है। वे प्रेम के समानान्तर अन्य किसी भी वस्तु को स्वीकार नहीं करते हैं। यहाँ तक कि वे शास्त्रीय ज्ञान को भी प्रेम के समक्ष महत्वहीन बताते हुए तनिक भी हिचकिचाते नहीं हैं। वे कहते हैं कि समस्त पुस्तकों को पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ लेने मात्र से मनुष्य पंडित हो जाता है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।

एकै अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।<sup>68</sup>

कबीर—काव्य में प्रेम के विविध रूपों का वर्णन मिलता है। जैसे वात्सल्य प्रेम, भगवत् प्रेम, कान्ता प्रेम आदि। यद्यपि प्रेम की महत्ता को सभी ने स्वीकार किया है। यह प्रत्येक दृष्टि से अपना अत्यधिक महत्व रखता है। किन्तु पति—पत्नी के मध्य आपसी प्रेम की बात चल रही हो तो इस का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। क्योंकि “प्रेम की जैसी तीव्रता और सान्द्रता दाम्पत्य भाव में प्राप्त होती है, वैसी अन्य किसी संबंध—भाव में लक्षित नहीं होती। प्रेमी का सर्वस्व—निवेदन जैसा प्रेम—पात्र के प्रति भावोच्छसित होता है वैसा अन्यत्र प्रायः नहीं होता। अतः संतों और भक्तों ने भक्त और भगवान के प्रेम की दाम्पत्य भाव से तुलना की है, आत्मा—परमात्मा के इस संबंध को पति—पत्नी के संबंध से उपमित किया गया है।”<sup>69</sup> इसका कारण यह है कि इसमें प्रेम के अनन्य भाव का निरूपण होता है। उदाहरणस्वरूप

हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव, हरि बिन रहि न सकैं मेरा जीव ।।<sup>70</sup>

यद्यपि यहाँ पर दाम्पत्य प्रेम के आध्यात्मिक पक्ष का निरूपण हुआ है। किन्तु सन्तों ने यह प्रेरणा लौकिक जागृत से ही ग्रहण की है—जन—जीवन में जब सन्तों ने दाम्पत्य प्रेम में अनन्यता और भावोद्रेकता देखी, तभी तो उन्होंने उसे परमात्मा के प्रेम का उपमान बनाया।

कबीर ने तो नर—नारी के सम्बन्धों की कसौटी प्रेम को स्वीकार किया है। उन्होंने पति से प्रेम न करने वाली तथा पर पुरुष में रमने वाली नारी को चरित्रहीन बताया है। इसके विपरीत सुचरित्र, सुलक्षण तथा पतिव्रता नारियों की अत्यधिक प्रशंसा भी की है। उनकी दृष्टि में वे नारियाँ ही सुहागिन हैं जो पति के प्रति पूर्ण समर्पित हैं—

जौं पै पतिव्रता है नारी, केसै ही रही सो पियहिं पियारी।

तन मन जीवन सौं पि सरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा ।।<sup>71</sup>

कबीर ने यहाँ पर भारतीय नारी के आदर्श प्रेम का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। भारत की प्रत्येक सुहागिन नारी अपने पति को परमेश्वर मानती है। उसके नेत्रों में सदैव ही अपने पति का बिम्ब बना रहता है। ऐसी स्थिति में उसका पर—पुरुष की ओर उन्मुख होना असम्भव है—

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।

नैनूं रमइया रमि रहया, दूजा कहाँ समाइ ।।<sup>72</sup>

भारतीय नारी के प्रेम की एक विशेषता यह भी है कि वह न तो स्वयं किसी अन्य पुरुष की ओर उन्मुख होती है और न ही अपने पति को किसी अन्य नारी के प्रति आकर्षित होते हुए सहन कर सकती है। इसका कारण यह है कि प्रेम अनन्यता चाहता है। यदि कोई व्यक्ति किसी से सच्चा प्रेम करता है तो वह उसी से करेगा और वह यह भी चाहेगा कि

उसका प्रिय भी उसके अतिरिक्त अन्य किसी से प्रेम न करे। यही प्रेम की पराकाष्ठा है—

नैना अंतरि आव तूँ ज्युँ हौं नैन झँपेउँ ।

नाँ हौं देखौं और कूँ नाँ तुझ देखन देउँ ।<sup>73</sup>

भारतीय नारियों की इस प्रेम की पराकाष्ठा को न केवल कबीर—काव्य में स्थान मिला है, बल्कि अन्य कवियों ने भी बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यंजित किया है। भारतीय नारियों की सुचरित्रता और प्रेम विश्व प्रसिद्ध है। चाहे वह राधा—कृष्ण का प्रेम हो, सीता—राम का प्रेम हो, सावित्री—सत्यवान का प्रेम को अथवा उर्मिला—लक्ष्मण का प्रेम हो। इन सभी भारतीय नारियों का अनन्य प्रेम भाव उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है। कबीर ने ऐसी ही भारतीय नारियों के आदर्श को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

पतिव्रता पति को भजैं पति पर धर विश्वास ।

आन दिसा चितवै नहीं सदा जीव की आस ।<sup>74</sup>

अतः भारतीय नारियों अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित होती हैं। वे अपने पति को परमेश्वर मानती हैं और उन पर पूर्ण विश्वास करती हैं। पत्नी के इसी पतिव्रता रूप पर कबीर शारीरिक सौंदर्य के अनेक रूपों को न्यौछावर कर देते हैं—

पतिव्रता मैली की भली काली कुचित कुरूप ।

परिबरता के रूप पर वारों कोटि सरूप ।<sup>75</sup>

गांधी जी के मतानुसार “स्त्री पुरुष में चारित्र्य की दृष्टि से स्त्री का आसन ज्यादा ऊंचा है, क्योंकि आज भी वह त्याग, मूक तपस्या, नम्रता, श्रद्धा और ज्ञान की प्रतीक है।”<sup>76</sup>

अतः स्पष्ट है कि हर सिक्के के दो पहलू होते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक पुरुष की प्रकृति एक समान नहीं होती, कोई अति सज्जन, महान, चरित्रवान, गुणवान तथा शीलवान होता है तो कोई अति कुटिल, दुर्जन, चरित्रहीन तथा पापी होता है। उसी प्रकार प्रत्येक स्त्री

भी चरित्र की दृष्टि से उच्च नहीं होती और न ही प्रत्येक स्त्री निम्न होती हैं। यही कारण है कि कबीर की दृष्टि में भी नारी कहीं निन्दनीय है तो कहीं प्रशंसनीय है। अतः यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि कबीर ने नारी निन्दा करके सम्पूर्ण भारतीय नारी की निन्दा की है।

#### 4. मुक्ति का दर्शन और कबीर का भक्ति-मार्ग

बृहत् हिन्दी कोश में उस शास्त्र को दर्शन कहा गया है जिसमें आत्मा, अनात्मा, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जगत, धर्म, मोक्ष तथा मानव-जीवन के उद्देश्य आदि का निरूपण हो।<sup>77</sup> इन्हें निरूपित करने के लिए वस्तुओं का गहन चिन्तन करना आवश्यक है जो दर्शन के माध्यम से सम्पन्न होता है। विचारक पैट्रिक के मतानुसार “दर्शन वस्तुओं के सम्यक् विचारणीकरण की कला है।”<sup>78</sup> इस विचारणीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ दृश्यमान जगत से होता है। चूँकि मनुष्य अति जिज्ञासु प्राणी है। अतः “वह विशाल दृश्य जगत् में फैले विविध रूप को देखते-देखते उसके भीतर प्रवेश करने लगता है। चिन्तन-मनन की साधना से उसमें निहित रहस्य को समझने लगता है। तब उसे इन दो आंखों के अलावा अनेक ज्ञान चक्षु मिल जाते हैं। यह ज्ञान चक्षु मनुष्य की दिव्य दृष्टि है जिसे पाकर वह समस्त ब्रह्माण्ड में सम्यक् सत्य का दर्शन करता है।”<sup>79</sup>

अतः दर्शन का शाब्दिक अर्थ है देखना। किन्तु किसी भी वस्तु को देखकर मनुष्य कदापि शान्त नहीं रह सकता क्योंकि उसका जिज्ञासु मन अति चंचल होता है और मस्तिष्क चिन्तनशील। अतएव विश्व की विभिन्न वस्तुओं को देखकर उसके सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करना उसका स्वाभाविक गुण है। कभी-कभी तो वह किसी वस्तु को देखकर अनायास ही सोचना आरम्भ कर देता है। उसे इस बात का आभास भी नहीं होता है कि वह वास्तव में इसके बारे में सोचना चाहता है या नहीं। इस प्रकार देखा जाय तो वह हर क्षण अपनी

चिन्तन-शक्ति का उपयोग करता है। अतः देखने और सोचने की क्रिया को मानव-जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता।

“भारत सदा से बौद्धिक चिन्तना के क्षेत्र में विश्व का अग्रणी रहा है। नैतिक मूल्यों पर आज भी भारत जितना बल देता है, उतना बल विश्व के किसी देश ने देने का साहस नहीं किया है। इसका एकमात्र कारण है कि आज से हजारों वर्ष पहले वेदों ने ‘वैदिक युग’ का सूत्रपात किया था, उसी समय से भारत की पुण्य-भूमि ने तपस्वियों को आंचल में पाल पोसकर एक नये रूप में संसार के कण-कण में व्याप्त अनेकानेक रहस्यों से परिचित होने के लिये उकसाया था। भारत की शस्य-श्यामला भूमि, धन धान्य से परिपूर्ण थी, जिसने करोड़ों निवासियों की क्षुधा का निवारण स्वयं कर दिया था। यही कारण था कि भारत में जन्म लेने वाले मानव ने अपनी शक्तियों को भूख-प्यास की ज्वाला के निवारणार्थ न लगाकर बौद्धिक-चिन्तन के क्षेत्र में अपनी शक्तियों को व्यय करने लगा, जिसके फलस्वरूप भारत ने विश्व को एक नया जीवन-दर्शन दिया।”<sup>80</sup>

भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषता व्यवहारिकता रही है जिसका आरम्भ आध्यात्मिक असन्तोष से होता है। मानव जब इस धरती पर आया और अपनी आँख खोली तो उसने स्वयं को विभिन्न प्रकार के दुखों एवं समस्याओं के आवरण से घिरा हुआ पाया और वह इससे बाहर निकलने की कामना करने लगा। फलस्वरूप जीवन की इन्हीं अनसुलझी समस्याओं, अनजाने प्रश्नों एवं दुखों के निवारण के लिए दर्शन का सृजन हुआ। ये कुछ ऐसी रहस्यमय समस्याएँ एवं प्रश्न हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति जानना चाहता है। जैसे “विश्व का स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार और क्यों हुई? विश्व का कोई प्रयोजन है अथवा यह प्रयोजनहीन है? आत्मा क्या है? जीव क्या है? ईश्वर है अथवा नहीं? ईश्वर का स्वरूप क्या है? ईश्वर के अस्तित्व का क्या प्रमाण है? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? सत्ता

का स्वरूप क्या है? ज्ञान का साधन क्या है? सत्य ज्ञान का स्वरूप और सीमाएँ क्या हैं? शुभ और अशुभ क्या है? उचित और अनुचित क्या है? नैतिक निर्णय का विषय क्या है? व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है? इत्यादि।”<sup>81</sup>

ये सभी समस्याएँ समय-समय पर विभिन्न रूपों में ज्ञानानुरागियों की चिन्तन क्रिया में मन्थन स्वरूप विभिन्न वादों, रूपों एवं कलेवरों में आती रही हैं और अन्त में सब श्रेष्ठ है तथा परमानन्द (ब्रह्म) से साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य है, की भावना को ही प्रतिपादित किया गया है।

जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष को माना गया है। “मोक्ष का अर्थ है दुःख से निवृत्ति। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें समस्त दुःखों का अभाव होता है। दुःखाभाव अर्थात् मोक्ष को परम लक्ष्य मानने के फलस्वरूप भारतीय दर्शन को ‘मोक्ष-दर्शन’ कहा जाता है।”<sup>82</sup>

मोक्ष अथवा “मुक्ति का दार्शनिक अर्थ है—विषय-वासना की आसक्ति से छुटकारा, सर्वत्र राम की अनुभूति, अथवा घट-घट में राम का दर्शन।”<sup>83</sup> घट-घट में राम का दर्शन तभी सम्भव है जब भक्त का भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण हो। भगवान में पूर्णतया रम जाने के पश्चात् भक्त के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। क्योंकि “जब जीव भगवान की ओर उन्मुख होता है, तब भक्ति के प्रभाव से उसकी स्वरूपगत वासना जाग उठती है और भगवान की कृपा से उसे अपनी उस वासना के अनुरूप भगवत्-प्राप्ति हो जाती है।”<sup>84</sup> गीता में एक स्थल पर भगवान द्वारा स्वयं ही यह कहा गया है कि मुझे जो जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूँ या प्राप्त होता हूँ। अतः “भगवान् को किसी भी रूप में प्राप्त कर लेना मुक्ति है। शास्त्रों ने मुक्ति में भगवत्-प्राप्ति के विभिन्न प्रकारों के अनुसार पाँच प्रकार की मुक्ति का वर्णन किया है— सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सामीप्य।”<sup>85</sup>

भारतीय दार्शनिक चिन्तन धारा में मुक्ति-दर्शन का सिद्धान्त अति प्राचीन है। इसमें जिस प्रकार से मुक्ति प्राप्ति के भिन्न-भिन्न रूपों की चर्चा की गयी है, उसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों और दर्शनों में इसका अर्थ भी अलग-अलग रहा है। जैसे—मुक्ति के लिए बौद्ध धर्म में निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है। हिन्दू धर्म शास्त्रों ने मोक्ष की संज्ञा दी है। यह चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से एक है जो सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वेदों में स्वर्ग एवं नरक का उल्लेख हुआ है। जीव अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग एवं नरक का भागी बनता है।<sup>1</sup> इसी प्रकार मुस्लिम धर्म में भी जन्नत (स्वर्ग) और दोज़ख (नरक) का जिक्र हुआ है, जो मनुष्यों के आमाल (अच्छाई-बुराई का लेखा-जोखा) पर आधारित होता है। अतः लगभग सभी दर्शनों में मोक्ष की धारणा भिन्न-भिन्न होने के बावजूद भी मोक्ष में आस्था प्रकट की गयी है।

वेद दार्शनिक मान्यताओं के ज्ञान के अति प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनमें स्वर्ग और नरक के स्पष्ट विचार भी मिलते हैं। इसमें स्वर्ग प्राप्ति से अमरता की बात कही गयी है तथा नरक को अन्धकारमय बताया गया है। प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक को प्राप्त करता है। साथ ही मुक्ति प्राप्ति के सम्बन्ध में आत्मा की श्रेष्ठता और पुरुषार्थ पर बल दिया गया है। उपनिषद् में “जीव का ब्रह्म से एकत्र हो जाना ही मोक्ष है। जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है।”<sup>86</sup> बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि “ब्रह्म विद्ब्रह्मैव भवति” जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।<sup>87</sup> वही व्यक्ति ब्रह्म हो सकता है जो निष्काम है, इच्छाओं से परे है, जिसकी इच्छाएं पूरी हो चुकी हैं अथवा जो केवल आत्मा विषयक है। तात्पर्य यह है कि जब हृदय में रहने वाली समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। यहीं उसे ब्रह्म की उपलब्धि

हो जाती है। गीता ने भी मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों को वश में करने का उपदेश दिया है। क्योंकि “इन्द्रियों के वशीभूत होकर मनुष्य का मन दूषित हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह अनेक कुभावों को मन में स्थान देता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य काम, लोभ, क्रोध आदि कुप्रवृत्तियों को बढ़ावा देता है जिन्हें गीता में नरक का द्वार बार-बार कहा गया है।<sup>88</sup>

बौद्ध धर्म में मुक्ति के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है। “बौद्ध धर्म में निर्वाण से तात्पर्य है अस्तित्व से मुक्ति, व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से नाश।<sup>89</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि अहंभाव रखने वाला मनुष्य सत्य आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। वह शरीर मन में बंध कर आत्मा से विमुख हो जाता है। जबकि काम, क्रोध, अभिमान—मोह आदि से मुक्त होने पर ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। जैन मत ने भी मोक्ष अथवा जन्म मरण के बन्धन को स्वीकार किया है तथा त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र) के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति का उपाय भी सुझाया है:

सम्यक्-दर्शन-ज्ञान चारित्र्याणि मोक्ष-मार्गः।<sup>90</sup>

“इसके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्ति की चर्चा षड्दर्शनों में भी की गयी है। षड्दर्शनों में सर्वप्रथम न्याय-दर्शन आता है। “न्याय-दर्शनों के अनुसार मुक्ति दुख का अत्यन्ता भाव है। दुख के लिए शरीर अपेक्षित है। विश्व में आत्मा को तभी तक जन्म बंधन में बँधना पड़ता है, जब तक उसे कर्मों का फल भोगने के लिये शरीर का माध्यम आवश्यक होता है। ज्यों ही ऐसे कर्मों की परम्परा का अन्त हो जाता है, पुनर्जन्म नहीं होता। यही मुक्ति की अवस्था है।”<sup>91</sup> वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म मुक्ति की कसौटी है। अतः धर्म में उन विशेष गुणों का समावेश होना अति आवश्यक है, जिनका अनुसरण करके मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सके। सांख्य-दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की मानी गयी है— जीवन-मुक्ति



तथा विदेह-मुक्ति। विवेक और ज्ञान के कारण मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है, उसे जीवन-मुक्ति कहते हैं तथा शरीर के नाश होने पर प्राप्त होने वाली मुक्ति की शास्त्रीय संज्ञा विदेह-मुक्ति हैं। योग दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राण, प्राणायाम, प्रत्यहार, धारणा, ध्यान समाधि आदि अष्टांग मार्ग द्वारा मुक्ति की प्राप्ति बतायी गयी है। जबकि मीमांसा-दर्शन में पहले मुक्ति की कल्पना ही स्पष्ट नहीं थी। यद्यपि जैमिनी और शबर मीमांसको ने यज्ञों के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति मानी थी। किन्तु बाद में अन्य दर्शनों की भाँति इस दर्शन में भी मोक्ष या मुक्ति की भावना ने जन्म लिया और मोक्ष का साधन निष्काम धर्माचरण को स्वीकार किया गया।

मुक्ति की दार्शनिक चिन्तन परम्परा में शंकराचार्य, रामानुज तथा कबीर का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मा का शरीर के साथ आसक्त हो जाना ही बन्धन है और इससे छुटकारा पा लेना मुक्ति है। उन्होंने इस बन्धन का कारण अज्ञानता (माया, अविद्या) को बताया है और इससे छुटकारा पाने के लिए ज्ञान अथवा विद्या को आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है क्योंकि “आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, चैतन्य मुक्त और अविनाशी है। परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह बन्धनग्रस्त हो जाती है। जब तक जीव में विद्या का उदय नहीं होगा तब तक वह संसार के दुखों का सामना करता जायेगा। अविद्या का नाश होने के साथ-ही-साथ जीव के पूर्वसंचित कर्मों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुःखों से छुटकारा पा जाता है।”<sup>92</sup> अतः शंकर के अनुसार मोक्ष को अपनाने के लिए ज्ञान अति आवश्यक तत्व है। जबकि रामानुज ने मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म तथा भक्ति आदि सभी को आवश्यक बताया है क्योंकि ज्ञान और कर्म के द्वारा भक्ति का उदय होता है और भक्ति द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। अतः “रामानुज ने भक्ति (Devotion) को मोक्ष-प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन माना है। उन्होंने ज्ञान और

कर्म पर मोक्ष प्राप्ति में इसलिये बल दिया है कि उनसे भक्ति का उदय होता है।<sup>93</sup>

कबीर की मुक्ति सम्बन्धी मान्यता भी भारतीय दार्शनिक मान्यता के अनुरूप ही है। उन्होंने भी दुखों के अन्त को मुक्ति कहा है। वे इस सम्पूर्ण संसार को ही दुखों से भरा हुआ मानते हैं—

दुनियाँ भाँड़ा दुख का, भरी मुँहामुह भूष।<sup>94</sup>

अतः यह संसार दुख रूपी भवसागर है जिसे पार कर लेने का अर्थ है मुक्ति की प्राप्ति। कबीर के मतानुसार मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भक्ति है—

जब लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भवसागर क्यूँ तिरिहौ।<sup>95</sup>

कबीर की भाव-भक्ति सच्ची सहज-भक्ति है। वे इसे कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ मानते हैं। तथा जप, तप, व्रत को भी वे भाव-भक्ति के बिना व्यर्थ बताते हैं। उन्होंने मुक्ति साधन के रूप में न तो प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कर्तव्य पालन को स्वीकार किया है और न ही धार्मिक नियमों के अन्धानुकरण को। वेद-शास्त्रों तथा धार्मिक रूढ़ियों का तो उन्होंने ज़बरदस्त विरोध किया है। किन्तु ज्ञान तथा योग को उनका समर्थन अवश्य प्राप्त है। जैसे—

संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे।

भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहै न बाँधी।।

**X X X**

आँधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरि जन भीनाँ।

कहै कबीर भाँन के प्रगटे, उदित भया तम षीनाँ।<sup>96</sup>

इसी प्रकार उनकी योगसाधना भी ज्ञान और ध्यान से निर्मित है। किन्तु यह हठयोग के झरने वाले अमृत से कहीं अधिक उत्कृष्ट वस्तु है। जो सहज में समाहित होकर साधक

जीव को महारस का पान कराती है—

अवधू मेरा मन मतिवारा, उन्मनि चढ़या गगन रस पीवे त्रिभवन भया उजियारा ।

गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुवा, भव भाठी करि भारा ॥

सुषमन नारी सहजि समानी, पीयै पीवनहारा ॥<sup>97</sup>

कबीर के इन दोहों से ज्ञान तथा योग—साधना का स्पष्ट संकेत मिलता है। किन्तु उनका यह ज्ञान योग भक्त्यात्मक अनुभूति का ही परिचय दे रहा है। यह बात आगे और भी स्पष्ट हो जाती है जब वे कहते हैं कि—

क्या जप क्या तप संजमाँ, क्या तीरथ ब्रत स्नान ।

जो पै जुगति न जाँनियै, भाव भगति भगवान ॥<sup>98</sup>

अतः कबीर का यह मानना है कि भक्ति ही वह मार्ग है जिसके माध्यम से जीव सांसारिक दुखों से छुटकारा पा सकता है। भाव—भक्ति के अभाव में जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत, स्नान आदि सभी बाह्यचार व्यर्थ हैं। अतएव कबीर ने मन, वचन, तथा कर्म से हरि भजन करने का उपदेश दिया है—

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुख अपार ।

मनसा, वाचा, क्रमनाँ, कबीर सुमिरण सार ॥<sup>99</sup>

अथवा—

कहै कबीर तन मन का ओरा भाव भक्ति हरिसूँ गठजोरा ॥<sup>100</sup>

कबीर की भक्ति में भाव शब्द भी जुड़ा हुआ है। भाव—भक्ति जो ईश्वर के प्रति श्रद्धा और प्रेम की प्रगाढ़ता को प्रदर्शित करता है। डॉ० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि— भावभक्ति हृदय—प्रसूत होती है।<sup>101</sup> अतः यह ऐसी भक्ति है जिसका सीधा सम्बन्ध हृदय से होता है। इस भक्ति के जागृत होने के पश्चात् भक्त अपना तन, मन, जीवन अर्थात् अपना सर्वस्व भगवान् के प्रति न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाता है। यही सर्वोत्तम भक्ति है।

इसी कारण कबीर ने अपनी भक्ति को भाव-भक्ति की संज्ञा दी है। भाव भक्ति से युक्त साधक के लिए सभी कुछ सम्भव हो जाता है—

जो जन भाव भगति कछु जाने ताको अचरज काहो।<sup>102</sup>

अतः भाव-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ एवं सच्ची भक्ति है। इसी के द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति सम्भव है। इसी कारण कबीर जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

भाव भगत बिसवास बिनु, कटै न संसै सूल॥

कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नहीं रे मूल॥<sup>103</sup>

इस प्रकार सांसारिक आवागमन से छुटकारा पाने की अवस्था मुक्ति कहलाती है जो मानव जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। मनुष्य जन्म लेता और फिर मृत्यु को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् वह पुनः शरीर धारण करता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक सांसारिक आवागमन चक्र से मुक्त न हो जाए। इससे मुक्ति के लिए ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान आवश्यक है जो कर्म-योग, भक्ति योग तथा ज्ञान-योग आदि साधनों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। प्रो० हरिमोहन के मतानुसार—‘संसार के आवागमन चक्र से मुक्ति की कामना जीव की परम जिज्ञासा होती है। इसी परमपद की प्राप्ति हेतु जीव विविध प्रयत्न करता है। जप-तप, योग-साधना, भक्ति-उपासना इत्यादि साधन मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही किए जाते हैं’<sup>104</sup>

मुक्ति-दर्शन के सम्बन्ध में लगभग सभी भारतीय दार्शनिकों ने उपर्युक्त बातों को स्वीकार किया है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन धारा में मुक्ति-दर्शन की परम्परा वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक विभिन्न मत-मतान्तरों से होते हुए एकता की स्वर्णिम लड़ियों को पिरोये हुए परमार्थ पथ पर अग्रसर हो रही है। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में मुक्ति प्राप्ति का साधन वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कर्तव्य पालन को बताया गया, तो बौद्ध

धर्म में मोक्षोपयोगी विविध साधनों में समाधि को विशिष्ट स्थान मिला, जबकि जैन धर्म में त्रिरत्न के माध्यम से मुक्ति स्वीकार की गयी है। न्याय-दर्शन में यौगिक क्रियाएँ आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यावश्यक बतायी गयी हैं। सांख्य-दर्शन में भी इन क्रियाओं को स्वीकृति प्रदान की गयी है। वेदान्त दर्शन में ज्ञान-योग पर बल दिया गया है। किन्तु कबीर मुक्ति के सम्बन्ध में अपनी कुछ मौलिक विशेषताओं के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने कर्म-योग, ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग आदि सभी साधनों को स्वाभाविक रूप से ग्रहण किया है, किन्तु मुक्ति प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधन के रूप में भक्ति को ही स्वीकार किया है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान की भक्ति के बिना व्यक्ति को मूलतः मुक्ति मिल ही नहीं सकती।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर अत्यधिक पारखी एवं अनुभवी व्यक्ति थे। उन्होंने कभी-भी किसी-भी बात का निर्णय रूढ़ियों एवं परम्पराओं में बँधकर नहीं किया। वे स्वानुभूति पर आधारित ज्ञान को महत्त्वपूर्ण बताते हैं तथा परम्परागत, रूढ़िवादी, शास्त्रीय एवं साम्प्रदायिक आचरण की मर्यादाओं का विरोध करते हैं। उन्होंने आध्यात्मिक पूर्णता के लिए बाह्याडम्बरों का सहारा न लेते हुए स्वानुभूति पर आधारित वैयक्तिक, भक्ति-साधना का उपदेश दिया और बाहर भटकते हुए 'मनुष्य' को अपनी 'पहचान' की ओर प्रेरित किया। उनका मानना था कि स्वानुभूति पर आधारित वास्तविक अध्यात्म-चिन्तन ही समाज की उन्नति एवं मानव-मुक्ति के लक्ष्य को पूर्ण कर सकती है। संक्षेप में उनकी भक्ति वैयक्तिक अस्मिता को समेटती हुई सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर आध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर होती है।

सन्दर्भ :

1. प्रभाकर श्रोत्रिय (संपादक)—कबीरदास विविध आयाम, प्रथम संस्करण— 2002, पृ० 8, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता-700017
2. पीताम्बरदत्त बड़थवाल—हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण—1965, पृ० 14, तक्षशिला प्रकाशन, अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली
3. डॉ० श्यामसुंदरदास (संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 36, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
4. डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित (संपा०)—कबीर : चिन्तन और सर्जन, पृ० 6, मनीषी प्रकाशन, मेरठ
5. वही, पृ० 13
6. परशुराम चतुर्वेदी— उत्तरी भारत की संत परंपरा, प्रथम संस्करण, संवत्—2008 वि०, पृ० 17, भारती भण्डार, प्रयाग
7. वही, पृ० 17
8. डॉ० शिवाजी देवरे, भाउसाहेब परदेशी—कबीर : सृष्टि और दृष्टि, प्रथम संस्करण—2004, पृ० 36, गरिमा प्रकाशन, 128/106, जी—ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर
9. सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण—1963, पृ० 195, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
10. परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परंपरा, प्रथम संस्करण, संवत्—2008 वि०, पृ० 188, भारती भण्डार, प्रयाग
11. डॉ० रामजीलाल 'सहायक'—कबीर एवं महात्मा गांधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण—1962, पृ० 5, रामलालपुरी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली
12. सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण—1963, पृ० 48, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
13. वही, पृ० 55
14. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 99, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
15. वही, पृ० 146
16. विलियम द्वायर—कबीर की भक्ति भावना, संस्करण—1995, पृ० 97, जयभारती प्रकाशन,

इलाहाबाद

17. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 76, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
18. वही, पृ० 79
19. डॉ० रामजीलाल 'सहायक'—कबीर—दर्शन, प्रथम संस्करण—1962, पृ० 260, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
20. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 105, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
21. डॉ० रामजीलाल 'सहायक'—कबीर—दर्शन, प्रथम संस्करण—1962, पृ० 272, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
22. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 206, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
23. वही, पृ० 75
24. वही, पृ० 70
25. परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा, प्रथम संस्करण, सं० 2008 वि०, पृ० 189—190, भारती भण्डार, प्रयाग
26. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 203, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
27. वही, पृ० 180
28. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 190, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
29. डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित (संपा०)—कबीर : चिन्तन और सर्जन, पृ० 4, मनीषी प्रकाशन, मेरठ
30. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 16, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
31. वही, पृ० 18
32. वही, पृ० 19
33. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021

- वि०, पृ० 101, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
34. डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी—कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, संस्करण—1974, पृ० 477  
सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद
  35. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 205, नेहरू नगर, कानपुर
  36. वही, पृ० 172
  37. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 203,  
नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  38. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021  
वि०, पृ० 101, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  39. डॉ० आर्या प्रसाद त्रिपाठी—कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, संस्करण—1974, पृ० 74  
सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद
  40. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021  
वि०, पृ० 132, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  41. वही, पृ० 107
  42. वही, पृ० 138
  43. वही, पृ० 145
  44. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 39, नागरीप्रचारिणी  
सभा, वारणसी
  45. पीताम्बरदत्त बड़थवाल—हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण—1965, पृ० 228, तक्षशिला  
प्रकाशन, अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली
  46. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 108,  
नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  47. वही, पृ० 130
  48. पीताम्बरदत्त बड़थवाल—हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण—1965, पृ० 228, तक्षशिला  
प्रकाशन, अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली
  49. डॉ० प्रहलाद मौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 16—17, नेहरू नगर, कानपुर
  50. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण अगस्त—1963,



- पृ० 15, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
51. श्री स्वामी गोविन्दानन्द वेदान्ताचार्य : (संपा०)—शुक्ल यजुर्वेद संहिता, भाग-1, (36/18) प्रथम आवृत्ति-2000, वि०, पृ० 431, सद्गुरु गंगेश्वर इण्टरनेशनल वेद मिशन, तुलसी निवास, 3/31 डी- रोड, चर्च गेट, बम्बई
  52. पीताम्बरदत्त बड़थवाल-हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण-1965, पृ० 238, तक्षशिला प्रकाशन, अन्सारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली
  53. डॉ० श्यामसुंदरदास-(संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 97, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  54. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)-कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 134, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  55. डॉ० श्यामसुंदरदास-(संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 113, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  56. डॉ० रामविलास शर्मा-भारत के अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद, भाग-1, प्रथम संस्करण-1982, पृ० 566, राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली
  57. डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त-वैष्णव कबीर : रहस्यवाद-मानवतावाद, प्रथम संस्करण-1985, पृ० 139, नवीनसंस्करण-1995, डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त भाषा संस्थान, इलाहाबाद-03
  58. डॉ० रामजीलाल 'सहायक'-कबीर एवं महात्मा गांधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण-1962, पृ० 154, रामलालपुरी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली
  59. डॉ० श्यामसुंदरदास-(संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 31, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  60. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)-कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 141, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
  61. डॉ० श्यामसुंदरदास-(संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 31, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  62. वही, पृ० 31
  63. वही, पृ० 31

64. वही, पृ० 31
65. वही, पृ० 30
66. वही, पृ० 31
67. वही, पृ० 31
68. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 134, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
69. डॉ० गजानन शर्मा—भक्ति कालीन काव्य में नारी, प्रथम संस्करण—1972, पृ० 57, जीत मल्होत्रा, रचना प्रकाशन, 45-ए, खलूदाबाद, इलाहाबाद
70. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 95, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
71. वही, पृ० 100
72. वही, पृ० 14
73. वही, पृ० 14
74. अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', (संग्राहकर्ता)—कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं० 2021 वि०, पृ० 118, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
75. वही, पृ० 118
76. डॉ० रामजीलाल 'सहायक'—कबीर एवं महात्मा गांधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण—1962, पृ० 150, रामलालपुरी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली
77. कालिका प्रसाद, राज बल्लभ सहाय, मुकन्दीलाल श्रीवास्तव (संपा०)—बृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् परिवर्धित संस्करण—1992, पृ० 509, ज्ञानमण्डल लिमि० विक्रम भवन, वाराणसी—221005
78. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण अगस्त—1963, पृ० 223, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
79. डॉ० प्रहलाद भौर्य—कबीर का सामाजिक दर्शन, पृ० 160, नेहरू नगर, कानपुर
80. डॉ० सावित्री शुक्ल—संत—साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण अगस्त—1963, पृ० 116-117, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
81. प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा—भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण—1983, पृ० 1, मोतीलाल

- बनारसीदास, दिल्ली
82. वही, पृ० 2
  83. डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त-वैष्णव कबीर : रहस्यवाद-मानवतावाद, प्रथम संस्करण-1985, पृ० 29, नवीनसंस्करण-1995, डॉ० हरिहर प्रसाद गुप्त भाषा संस्थान, इलाहाबाद-03
  84. अबध बिहारी लाल कपूर-श्री चैतन्य महा प्रभु का दार्शनिक सिद्धान्त : आचिन्त्य भेदाभेद, संस्मरण-6 मई, 1981, सं० 2038 वि०, पृ० 249, परमार्थ प्रकाशन, राधारमण निवास, रमणरेती, वृन्दावन
  85. वही, पृ० 249-250
  86. प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण-1983, पृ० 64, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
  87. वही, पृ० 65
  88. वही, पृ० 76
  89. बी० एन० लूनिया-प्राचीन भातीय संस्कृति, प्रथम संस्करण-1966, पृ० 343, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
  90. प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण-1983, पृ० 159, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
  91. बी० एन० लूनिया-प्राचीन भातीय संस्कृति, प्रथम संस्करण-1966, पृ० 796-797, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
  92. प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण-1983, पृ० 313, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
  93. वही, पृ० 321
  94. डॉ० श्यामसुंदरदास-(संपा०)-कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 20, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
  95. वही, पृ० 186
  96. वही, पृ० 73
  97. वही, पृ० 86
  98. वही, पृ० 96

99. वही, पृ० 4
100. वही, पृ० 119
101. डॉ० रामजीलाल 'सहायक'—कबीर एवं महात्मा गांधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण—1962, पृ० 364, रामलालपुरी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली
102. डॉ० श्यामसुंदरदास—(संपा०)—कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं० 2061 वि०, पृ० 222, नागरीप्रचारिणी सभा, वारणसी
103. वही, पृ० 186
104. प्रो० हरिमोहन—भक्ति काव्य : पहचान और परख, संस्करण—2004, पृ० 85, अमर प्रकाशन, सदर बाजार, मथुरा

# उपसंहार

## उपसंहार

कबीर हिन्दी काव्य—जगत की वह महान विभूति हैं जिन्होंने सर्वप्रथम मानव को केन्द्र में रखकर काव्य—रचना की। मानव को मानव होने का अनुभव कराया तथा मानवीय अस्मिता की शिनाख्त की, जो तत्कालीन समाज में धर्म, वर्ण, जाति के अन्धकूप में पड़कर कहीं विलुप्त होती जा रही थी। कबीर मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के पक्षधर थे। उनके लिए धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर मनुष्य—मनुष्य में भेद—भाव अर्थहीन था। वे ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे जिसमें मनुष्य प्रमुख हो। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर कोई भेद—भाव न हो, कोई किसी के अधिकारों को क्षति न पहुँचाये और न ही कोई किसी का शोषण करने वाला हो। सभी को जीवित रहने तथा अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अधिकार प्राप्त हों। इस प्रकार कबीर—काव्य मानवीय अस्मिता की रक्षा का उच्च आदर्श प्रस्तुत करता है।

कबीरकालीन समाज सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि सभी—दृष्टियों से एक अव्यवस्थित समाज था। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए सर्वप्रथम जनजागृति की आवश्यकता थी। कबीरादि सन्तों ने इसके लिए एक क्रान्तिकारी अभियान की शुरुआत की, जो आगे चलकर भक्ति—आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। इस आन्दोलन का उद्देश्य था मनुष्य को केन्द्र में स्थापित करना जो सदियों से उत्पीड़न एवं उच्च जातियों के अत्याचार का शिकार था। देखते—ही—देखते इस आन्दोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया। इसमें शूद्रों, मुसलमानों एवं स्त्रियों ने बड़े पैमाने पर अपनी भागीदारी निभायी। इसी कारण इसे लोकजागरण की भी संज्ञा दी जाती है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में महान परिवर्तन हुए। समाज की तथाकथित निम्न जातियाँ जो दरिद्रता एवं उच्च जातियों द्वारा दी गयी प्रताड़ना को अपना भाग्य समझकर चुप थीं, उन्हें

इस बात का एहसास हो गया कि धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उन्हें प्रताड़ित करना, निम्न एवं हेय समझकर भेद-भाव रखना एवं उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करना आदि सभी अमानवीय व्यवहार हैं। यह उच्च जातियों द्वारा उनके प्रति रचा गया षड्यन्त्र मात्र है क्योंकि सभी प्राणियों की रचना एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति से हुई है। अतः सभी समान हैं। यही वह एहसास था जिसके कारण निम्न जातियों में प्रतिरोध की चेतना का उदय हुआ। तत्पश्चात् जाति-प्रथा की जटिलताएं एवं संकीर्णताएं धीरे-धीरे समाप्त होने लगीं। भक्ति, जिस पर अब तक केवल उच्च जातियों का अधिकार था अब यह मार्ग निम्न जातियों के लिए भी खुल गया। साथ ही उन्हें व्यवसायिक चुनाव की भी स्वतन्त्रता मिली। इस प्रकार कबीरादि सन्तों ने समाज में अपनी सक्रिय भूमिका के माध्यम से सामाजिक बुराइयों को मिटाकर निम्न समझी जाने वाली जातियों को समाज में सम्मान दिलाया।

सन्तों द्वारा सामाजिक कुरीतियों को मिटाकर निम्न जातियों को सम्मान दिलाने का जो प्रयास किया गया वह सन्त-साहित्य के अन्तर्गत आता है। इसका आधार है— शंकर का अद्वैतवादी चिन्तन, सिद्धों का चिन्तन, एवं नाथयोगियों का चिन्तन। यद्यपि सन्त-साहित्य का मूल स्रोत सिद्धों एवं नाथों का साहित्य है। किन्तु इस पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का भी विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। शंकराचार्य ने आत्मा परमात्मा की एकता को स्थापित करते हुए अद्वैतवाद का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसी का आश्रय ग्रहण कर सन्तों ने भी आत्मा-परमात्मा की एकता को मान्यता प्रदान की। सिद्धों से उन्होंने सहज भक्ति-साधना को अपनाया। कबीर ने सहज शब्द का प्रयोग बार-बार किया है। किन्तु उनकी यह सहज भक्ति-साधना सिद्धों की भाँति तामसिक न होकर सात्विक थी। स्थान-स्थान पर तीर्थाटन, मूर्ति-पूजा, गंगा-स्नान आदि बाह्याडम्बरों की निन्दा की प्रवृत्ति भी सन्तों ने सिद्ध-साहित्य से ही ग्रहण की है। मन की शुद्धिकरण के लिए सन्तों ने

नाथयोगियों से योग को अपनाया है। किन्तु उन्हें नाथयोगियों की भाँति शरीर में भस्म लगाना, लंबे बाल रखना तथा रुद्राक्ष की माला धारण करना स्वीकार नहीं था। उन्होंने इन चिह्नों को मन में धारण (सो जोगी जाके मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा।) करने की बात कही है। इस प्रकार सन्त-साहित्य पर अद्वैतवाद, सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य आदि सभी सम्प्रदायों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। किन्तु सन्तों ने इन सम्प्रदायों की प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपनी कुछ मौलिक बातों को भी इनके साथ जोड़ दिया, जो धर्म को अत्यन्त सात्विक, सरल, सहज एवं बौद्धिक बनाने वाली थीं।

कबीरकालीन समाज में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था। धर्म के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति को आचरण करना होता था। धर्म के अनुसार आचरण करने से तात्पर्य है वर्ण-व्यवस्था के अनुसार आचरण करना। हिन्दू धर्म शास्त्रों में परम्परागत रूप से चली आ रही इस (वर्ण-व्यवस्था) व्यवस्था के पालन को ही सदाचार बताया गया है। इसलिए सदियों से लोग इस व्यवस्था का पालन करते हुए चले आ रहे थे। किन्तु मानवीय अधिकारों के रक्षक कबीर ने इस धार्मिक व्यवस्था के परम्परागत रूप पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। उनका विचार था कि जो धर्म व्यक्ति को उसके अधिकारों से वंचित करता हो तथा मानव-मानव के बीच विभाजक रेखा खींचने वाला हो वह धर्म कैसे हो सकता है? जबकि ईश्वर ने सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति एक समान की है। कबीर को यह अमानवीय व्यवहार किसी भी रूप में स्वीकार नहीं था। इसी कारण उन्होंने धार्मिक आस्था से जुड़ी हुई उन समस्त रूढ़ियों, परम्पराओं एवं मिथ्या आडम्बरो का विरोध किया, जो मानवीय सामाजिक अधिकारों के मार्ग में बाधक थे। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक आस्था की रूढ़ियों को अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सवालों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया, जिसका जवाब



किसी के पास नहीं था। कबीर कर्मकाण्ड एवं बाह्यचारों में विश्वास रखने वालों से प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि सिर के बाल मुड़ाने से मुक्ति मिलती है तो सर्वप्रथम भेड़ों को मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी प्रकार बहुत से योगी-सन्यासी मुक्ति की इच्छा से जंगलों में नंगे रहते हैं। यदि मुक्ति का सम्बन्ध नग्न रहने से है तो वन में नंगे विचरण करने वाले मृगों को सबसे पहले मुक्ति मिलनी चाहिए। इसी प्रकार मुक्ति का सम्बन्ध यदि गंगा स्नान से है तो इसके अधिकारी मेढक होने चाहिए। तात्पर्य यह है कि ये सभी बातें धर्म की वास्तविक बातें नहीं हैं। वास्तविक धर्म आध्यात्मिक चिन्तन में निहित है और आध्यात्मिक चिन्तन का सम्बन्ध रूढ़ियों, परम्पराओं एवं पण्डित-मुल्ला द्वारा कही गयी बातों का अन्धानुकरण करने से नहीं है, बल्कि आत्म-साधना द्वारा ब्रह्म-विचार से है। इसी से ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। इसीलिए कबीर ने कहा है कि आत्मा को चीन्हें। ब्रह्म-ज्ञान के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है, जिसमें कर्मकाण्डों के लिए कोई स्थान नहीं है। जबकि कबीरकालीन समाज में धर्म पर आधारित कर्मकाण्डों की बहुलता थी। जिससे वर्ण-व्यवस्थाजन्य जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत को भी अत्यधिक बढ़ावा मिला। ऊँच-नीच, छुआछूत आदि संकीर्ण भावनाओं के कारण तथाकथित निम्न जातियों का जीना मुश्किल हो गया था। उन्हें उनके समस्त अधिकारों से वंचित कर नगर से बाहर रखा जाता था। उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था जो एक धार्मिक संस्था भी है, वह अपने संस्थागत रूप में उपयोगी साबित नहीं हुई। धार्मिक संस्थाओं में सदैव सामाजिक कल्याण का भाव छुपा रहता है। जबकि वर्ण-व्यवस्था ने उच्च जातियों को विशेषाधिकार प्रदान कर निम्न जातियों को सदैव के लिए दलित, उत्पीड़ित एवं शोषित बना दिया था। किन्तु कबीर इन दलित, उत्पीड़ित एवं शोषित जातियों की आवाज़ बनकर समाज के सामने आये और चीख-चीखकर उच्च जातियों से प्रश्न किया कि तुम दोनों (ब्राह्मण-शूद्र) के धमनियों में

एक जैसे रक्त की ही धारा प्रवाहित हो रही है फिर ब्राह्मण—शूद्र का भेद—भाव कैसे सम्भव है? यदि स्वयं को उच्च जाति का बताते हो तो तुमने उसी द्वार से क्यों जन्म लिया जिस द्वार से शूद्र जन्में हैं, तुम्हें तो किसी अन्य द्वार से पैदा होना चाहिए था। कबीर ने ऐसे ही तिलमिलाने वाले सवालों के माध्यम से सच्चाई बयान की तथा धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर स्थापित श्रेष्ठता को नकारते हुए मानवीय अस्मिता की रक्षा के लिए हाथ में मुराडा लेकर घर से बाहर निकल पड़े।

कबीर को हाथ में मुराडा लेकर जिसकी तलाश में घर से बाहर निकलना पडा था निश्चय ही वह कठिनता से प्राप्त होने वाली वस्तु थी, इसे प्राप्त करने में जितनी कठिनाई का सामना करना पडा, उतना ही कठिन इसे परिभाषित करना भी है। कहीं पर 'अस्मिता' शब्द अहंकार एवं मोह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो कहीं पर यह आस्था, गौरव और संकल्प का बोधक शब्द माना गया है। किसी विद्वान ने 'मैं हूँ' से लेकर 'मैं किसलिए हूँ' तक की यात्रा को अस्मिता बताया है तो किसी ने इसे दर्शन और गणित से जोड़ने की कोशिश की है। सामान्यतः अस्मिता, सत्ता, वजूद, अथवा निजता की अनुभूति को कहते हैं। इसकी सार्थकता को समझना ही व्यक्ति का बुनियादी सरोकार होता है, क्योंकि यह व्यक्ति की अपनी निजता एवं महत्ता को रेखांकित करने वाली धारणा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य इच्छानुसार अपने व्यक्तित्व का निर्धारण करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होता है। अतः अस्मिता और स्वतन्त्रता दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मनुष्य अपनी सत्ता समाज में तभी स्थापित कर सकता है जब वह पूर्ण स्वतन्त्र हो उस पर कोई नियम दूसरों द्वारा आरोपित न हो। अतः स्वतन्त्रता सत्ता का अभिन्न अंग है।

किन्तु मध्यकालीन समाज हिन्दू धर्म व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित था, जिसके अन्तर्गत सभी वर्णों के कार्यों को उच्चता से

निम्नता के क्रम में निर्धारित किया गया था। इस प्रकार के क्रम विभाजन की श्रेणी में शूद्रों को सबसे निम्न स्थान प्राप्त था जिनके कारण उन्हें नीच समझा जाने लगा था। अतः वे न तो स्वतन्त्र थे और न ही उनकी समाज में कोई सत्ता थी। वे सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि सभी मानवीय अधिकारों से पूर्णतः वंचित थे, यहाँ तक खाना भी वह दूसरों का दिया हुआ ही खाते थे। उनकी स्थिति इतनी दयनीय हो गयी थी कि उनमें जिजीविषा की भावना भी धीरे-धीरे समाप्त होने लगी थी—

इब न रहूँ माटी के घर मैं, इब जाई मिलूँ मैं हरि में।

वर्ण-व्यवस्था के बाद सामन्ती व्यवस्था ने भी इसका लाभ उठाया। सामन्ती शासकों ने अपने मनमाने व्यवहार से जनता का शोषण किया। इस शोषण में ब्राह्मणों का हाथ था। वे सामन्तों के मनमानी व्यवहार को धर्म का जामा बड़े ही चतुरता से पहनाते थे। तत्पश्चात् उन्हें ठगने का कार्य करते थे। कुछ लोगों का मानना है कि सामन्तवाद की उत्पत्ति राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को भूमि-दान करने से हुई। ब्राह्मण जिसे उच्च कुल में उत्पन्न हुआ माना जाता था, उन्हें उद्योग-धन्धों से कोई मतलब नहीं था, राजा लोग इन्हें भूमि-दान कर दिया करते थे और ये लोग ही सामन्त के रूप में कार्य करने लगते थे। सामन्तों में स्वेच्छाचारिता अधिक थी। भूमि पर एकाधिकार होने के कारण वे अपने अधीन वर्गों से दासों एवं गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। फिर भी ये असहाय एवं अस्तित्वहीन लोग अपने परम्परागत व्यवसाय को करने के लिए विवश थे क्योंकि जाति-व्यवस्था की भाँति सामन्ती व्यवस्था में भी पेशों का चुनाव पूर्व निश्चित था।

समाज में असहाय, उपेक्षित एवं अस्तित्वहीन जीवन व्यतीत कर रहे लोगों को कबीर ने सम्मान दिलाया। मानवीय गरिमा को प्राथमिकता प्रदान करते हुए उन्हें उनके अधिकारों के लिए जागृत किया। कबीर धर्म, वर्ण, जाति निरपेक्ष समाज की कल्पना करते

हैं। उनका हृदय विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत था। उनका मानना है कि उत्पत्ति की दृष्टि से सब समान हैं। अतः धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उच्चता एवं निम्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग स्वयं को धार्मिक मानते हैं और धर्म, वर्ण, जाति के नियमों का पालन करते हुए सिद्धि की इच्छा रखते हैं वे अज्ञानी हैं क्योंकि सबसे बड़ी सिद्धि समानता का व्यवहार करने में है—‘आपा पर सब एक समान, तब हम पावा पद निरबाण’। कबीर ने ऊँच-नीच का व्यवहार करने वाले मनुष्य को पशु-तुल्य बताया है। पशु-तुल्य इसलिए कहा है क्योंकि भेद-भाव परक दृष्टि मानवीय व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आती। साथ ही इसकी आज्ञा न तो कोई धर्म देता है और न तो कोई कानून। यदि कोई व्यक्ति धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव करता है तो वह धर्म एवं कानून दोनों ही दृष्टि से अपराधी है। इसके लिए उसे दण्डित भी किया जायेगा क्योंकि अन्तिम निर्णय (माँगे न्याव खुदाई) इस सृष्टि के रचयिता का है, जो अवश्य ही न्याय करने वाला है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सभी के साथ समानता का व्यवहार करे। उसकी सिद्धि की व्यवस्था स्वतः ही हो जायेगी क्योंकि स्वर्ग का निर्माण वस्तुतः भूतल पर ही हुआ करता है।

कबीर ने विश्रृंखलित होते हुए जनसाधारण को सत् मार्ग की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। उन्हें, मानवता का पाठ पढ़ाया। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर भेदभाववादी दृष्टि का विरोध कर ‘समतावाद’ पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जैसे— ऐक्य में विश्वास, जाति भेद का विरोध, परहित साधन, निष्काम सेवा तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता। कबीर द्वारा प्रतिपादित ये सिद्धान्त मानवता के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये वह सिद्धान्त हैं जो मानवतावाद के पुरातन सिद्धान्तों से हटकर हैं जो तत्कालीन परिस्थिति के लिए आवश्यक थे। कबीर ने मानव तथा मानवीयता पर नये सिरे से चिन्तन किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य इस संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मानव के रूप में जन्म पाना

दुर्लभ है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सांसारिक माया—मोह में पड़कर इसे व्यर्थ ही न गंवाए बल्कि मानवोचित गुणों का विकास करके मनुष्य से मनुष्यत्व तथा मनुष्यत्व से देवत्व को प्राप्त कर ले। इसी में मानव तथा मानव निर्मित समाज दोनों का कल्याण निहित है।

कोई भी साहित्यकार अपने समाज का प्रतिनिधि होता है क्योंकि वह सामाजिक प्राणी है और वह समाज से ही प्रभावित होकर काव्य—सृजन करता है। अतः उसका यह दायित्व बनता है कि वह अपने समाज और देश की नाड़ी को परखे उसकी धड़कन को समझे और फिर काव्य—सृजन करे। कबीर समाज की नब्ज को टटोलने में पूर्ण सफल रहे हैं। उन्होंने समाज में व्याप्त विकृतियों एवं विषमताओं को अत्यधिक सूक्ष्मता से देखा और परखा है। इसे सूक्ष्मता से देखने और परखने के पश्चात् ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि एक स्वस्थ एवं समन्वयशील समाज की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रत्येक व्यक्ति में एकता का भाव न हो और ऐक्य—भाव उनमें तब तक नहीं पैदा किया जा सकता जब तक उन्हें सच्चाई का ज्ञान न हो जाय। अतः सच्चाई का सामना करवाने तथा एकता का भाव पैदा करने के लिए एक ऐसे सूत्र की आवश्यकता थी जो जगत के विभिन्न रूपों में समन्वय स्थापित कर सके। कबीर ने इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए सहज भक्ति—साधना अथवा आध्यात्मिकता का सहारा लिया। आध्यात्मिकता एक ऐसा सूत्र है जो उपरोक्त आवश्यकता की पूर्ति में पूर्ण सक्षम है। किन्तु यह आध्यात्मिकता वास्तविकता के समीप होना चाहिए। अर्थात् वास्तविक अध्यात्म चिन्तन ही एक स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है।

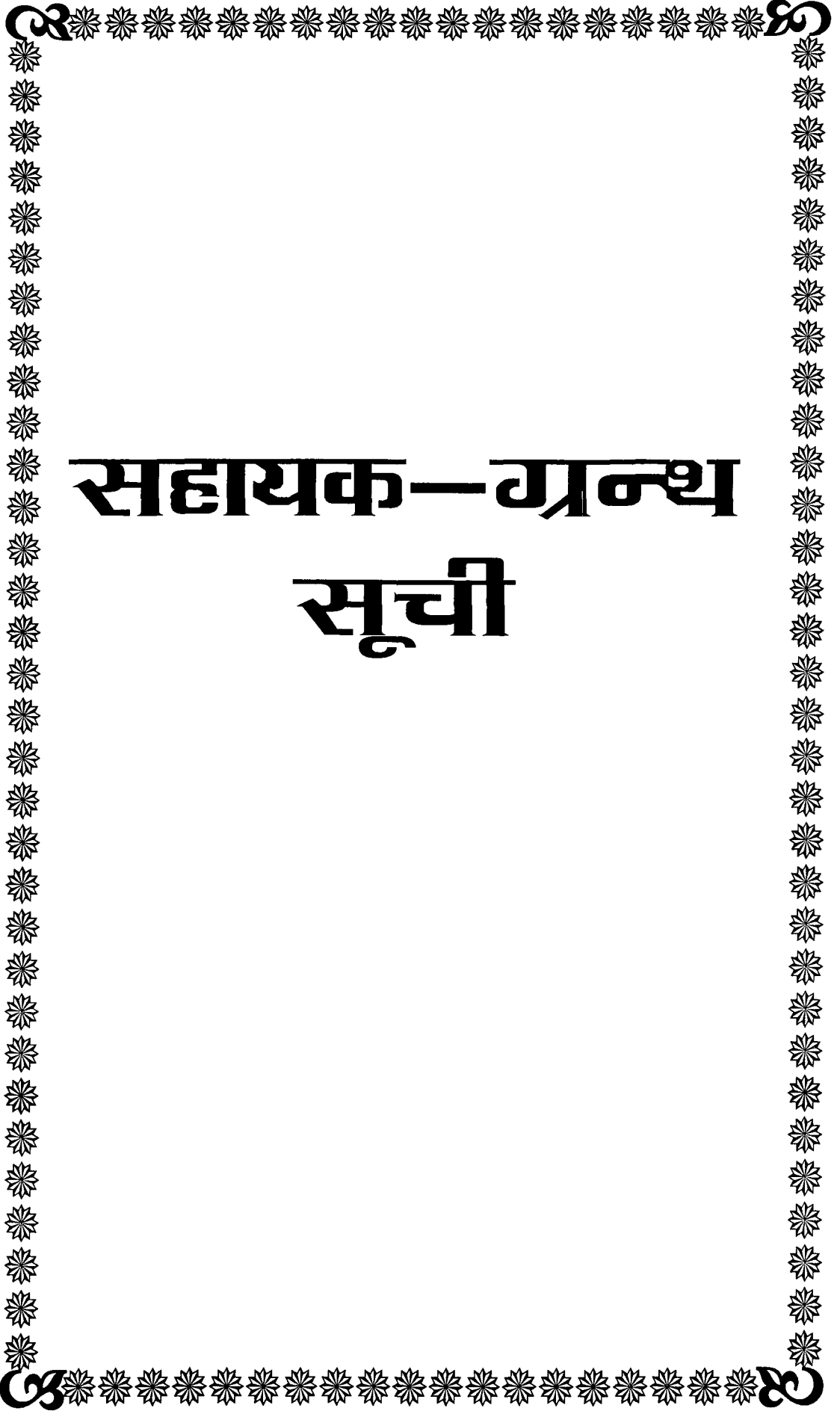
कबीर ने आध्यात्मिक पूर्णता के लिए बाह्याडम्बरों का सहारा न लेते हुए स्वानुभूति पर आधारित वैयक्तिक, भक्ति—साधना का उपदेश दिया। वे मानव शरीर को ही परम ईश्वर की वास स्थली मानते हैं। अतः उनकी भक्ति वैयक्तिक अस्मिता को समेटती हुई

सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर आध्यात्मिक पूर्णता की ओर अग्रसर होती है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीर—काव्य मानवीय अस्मिता की रक्षा का उच्च आदर्श प्रस्तुत करने वाला प्रथम काव्य है तथा कबीर बाहर भटकते हुए 'मनुष्य' को उसकी 'पहचान' की ओर प्रेरित करने वाले प्रथम कवि। उनके काव्य का मूल उद्देश्य मानव कल्याण में निहित है। मानव—मात्र के प्रति जैसी आस्था कबीर में दिखायी पड़ती है वैसी आस्था न तो कबीर से पूर्व किसी कवि में थी और न ही उनके बाद किसी अन्य कवि के काव्य में दृष्टिगत हुई। कारण यह है कि कबीर अत्यन्त निर्भीक, साहसी एवं क्रान्तिकारी स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने कभी—भी समझौते के मार्ग को नहीं अपनाया और न ही उन्हें कभी किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय हिचकिचाहट या डर का अनुभव हुआ। कबीर का हाथ में मुराड़ा लेकर घर से बाहर निकलना उनकी निर्भीकता एवं मानव—हित में विश्वास का ही प्रमाण है। कबीर की वाणी में वह शक्ति थी जिसने परम्परा से चली आ रही वर्ण—व्यवस्था को नकार दिया, वेद—शास्त्रों के प्रति अनास्था व्यक्त की तथा अपने युग के विभिन्न धार्मिक रूढ़ियों एवं मिथ्याडम्बरों का घोर विरोध कर वास्तविक धर्म से भारतीय जनता का परिचय कराया। उन्होंने न केवल धार्मिक कुरीतियों पर चोट की बल्कि आर्थिक विषमता एवं सामाजिक निर्योग्यता पर भी गहरा प्रहार किया। उन्होंने अपनी सक्रिय भूमिका के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त खोखलेपन को मिटाकर 'समतावाद' एवं 'मानवतावाद' का ठोस आधार—प्रदान किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। अतः धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर उनमें भेद—भाव नहीं किया जा सकता।

आज से कई सौ वर्ष पूर्व कबीर ने धर्म, वर्ण, जाति को नकार कर समानता के धरातल पर जिस सात्विक ज्योति को प्रज्ज्वलित किया था उसकी रोशनी आज भी

धुंधली नहीं पड़ी है। अर्थात् कबीर-काव्य आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना तत्कालीन समाज में था, बल्कि हम यह कह सकते हैं कि 21वीं सदी के मूल्यहीनता के दौर में कबीर-काव्य की आवश्यकता और अधिक महसूस हो रही है। कारण यह है कि जो साहित्य उच्चतर मानव-मूल्यों को प्रस्तुत करता है। वह कभी-भी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। कबीर-काव्य तो सीधे मानव तथा मानव मूल्यों से ही जुड़ा हुआ है। उनका यह काव्य मानव, मानवता तथा मानवीय अस्मिता की खोज करने वाला काव्य है, जो सदैव मानव का दिशा-निर्देश कर उसे मानवता के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता रहेगा।



# सहायक—ग्रन्थ सूची



## सहायक ग्रन्थ-सूची

### मूल ग्रन्थ-सूची

- गुप्त हरिहर प्रसाद (भाष्यकार) : कबीर ग्रंथावली, भाग-1, साखी, प्रथम संस्करण-2  
अगस्त, 1992, भाषा साहित्य संस्थान, 147 / 249,  
त्रिवेणी रोड, बाइ का बाग, इलाहाबाद-03
- जाफरी अली सरदार : कबीर-बानी, हिन्दुस्तान बुक ट्रस्ट, खेतान् भवन,  
(संपा0 और अनु0) टाटा रोड, बम्बई
- दास श्यामसुंदर (संपा0) : कबीर ग्रंथावली, 24वाँ संस्करण, सं0 2061, वि0,  
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
- मिश्र भगवत् स्वरूप : कबीर-ग्रंथावली, नवीनतम संस्करण, विनोद पुस्तक  
(संपा0 एवं भाष्यकार) मन्दिर, आगरा-3
- शास्त्री आचार्य महन्त गंगाशरण : महाबीजक, प्रथम संस्करण, सं0 2055, कबीर वाणी  
(संपा0) प्रकाशन केन्द्र, श्रीसद्गुरु कबीर मन्दिर, सी-23 / 5,  
कबीरचौरा मठ, वाराणसी-221001
- ‘हरिऔध’ अयोध्यासिंह उपाध्याय : कबीर वचनावली, 12वाँ संस्करण, सं0 2021, वि0,  
(संग्रहकर्ता) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
- आलोचनात्मक ग्रन्थ :**
- अहसन मोहम्मद : निर्गुण संत कवियों का मानवतावाद (15-16वीं शताब्दी),  
प्रथम संस्करण-जून-1984, उत्कर्ष प्रकाशन, ऊपरकोट,  
अलीगढ़।
- आर्य हरफूल सिंह : मध्यकालीन समाज, धर्म, कला और वास्तुकला

- एम०फ़िरोज ख़ान (संपा०) : नई सदी में कबीर, प्रथम संस्करण—2007, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, ई-10/669, उत्तरांचल कॉलोनी (निकट संगम हाल) लोनी बार्डर, गाजियाबाद
- खण्डेलवाल जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, दसवाँ संस्करण—1977, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
- गोस्वामी विष्णु (संपा०) : भक्ति साहित्य का पुनर्मूल्यांकन, प्रथम संस्करण—1984, यशराज प्रकाशन, 18, गोविन्द बनर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा
- गुप्त हरिहर प्रसाद : वैष्णव कबीर : रहस्यवाद—मानवतावाद, संस्करण—1995, डा० हरिहर प्रसाद गुप्त भाषा साहित्य संस्थान, 147, त्रिवेणी नगर, इलाहाबाद—63
- गुप्त विश्वप्रकाश, गुप्ता मोहिनी : राजाराममोहन राय : व्यक्ति और विचार, प्रथम संस्करण—1996, राधा पब्लिकेशन्स, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
- गुप्ता कमला : हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद, प्रथम संस्करण—1979, अभिनव प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली—2
- चतुर्वेदी परशुराम : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, प्रथम संस्करण, सं० 2008 वि०, भारती भण्डार, प्रयाग
- चौरसिया केशनी प्रसाद : मध्यकालीन विचार और साधना, प्रथम संस्करण—1965, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
- जे०एस० मेकेन्जी : समाजदर्शन की रूपरेखा, प्रथम संस्करण—1962,

- पुनरावृत्ति—1987, राजकमल प्रकाशन, प्रा0 लिमि0,  
1—बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली—2
- जोशी बाबूराव : सन्त—काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप (सं0 1500 से  
1700 वि0 तक), संस्करण—1968, कैलाश प्रसाद  
अग्रवाल, कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर
- त्रिपाठी आर्या प्रसाद : कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, प्रथम  
संस्करण—सितंबर—1974, सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद
- ‘तोमर’ देवेन्द्र पाल सिंह : समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, प्रथम संस्करण—2004,  
डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, अंसारी रोड, दरियागंज,  
नई दिल्ली
- त्रिगुणायत गोविन्द : कबीर की विचारधारा, प्रथम संस्करण—सं0 2009,  
द्वितीय संस्करण—सं0 2014, साहित्य निकेतन श्रद्धानन्द  
पार्क, कानपुर
- द्वायर विलियम : कबीर की भक्ति भावना, संस्करण—1995, जयभारती  
प्रकाशन, लालजी मार्केट, माया प्रेस रोड, 258/365  
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद
- द्विवेदी हजारीप्रसाद : सहज—साधना, प्रथम संस्करण—1982, द्वितीय  
संस्करण—1989, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लिमि0,  
1—बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली—2
- द्विवेदी हजारीप्रसाद : कबीर, तेरहवीं आवृत्ति—2006, राजकमल प्रकाशन,  
प्रा0 लिमि0, 1—बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई

दिल्ली-110002

- द्विवेदी हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य की भूमिका, प्रथम संस्करण-1940,  
आठवी आवृत्ति-1969, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-6
- दीक्षित आनन्द प्रकाश (संपा०) : कबीर : चिन्तन और सर्जन, मनीषी प्रकाशन,  
मेरठ-250001
- दुबे सत्यामित्र : समाजशास्त्र : एक परिचय, प्रथम संस्करण-1989,  
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण, परिषद श्री अरविन्द  
मार्ग, नई दिल्ली
- देवरे शिवाजी भाउ साहेब परदेशी : कबीर : सृष्टि और दृष्टि, प्रथम संस्करण-2004,  
गरिमा प्रकाशन, 128/106, जी ब्लॉक, किदवई नगर,  
कानपुर
- दोषी शम्भूलाल : भारती समाज संरचना और परिवर्तन, प्रथम  
संस्करण-2002, नेशनल पब्लिकेशन्स हाउस, 33,  
चौड़ा रास्ता, जयपुर
- धर्मवीर : कबीर के आलोचक, प्रथम संस्करण-1997, द्वितीय  
संस्करण-1998, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज,  
नई दिल्ली-110002
- नगेन्द्र (संपा०) : भारतीय साहित्य, संस्कृति और कला, प्रकाशन  
वर्ष-1972, स०च०द० एण्ड कम्पनी, प्रा० लिमि०,  
रामनगर, नई दिल्ली-55
- नागौरी एस०एल० : मध्यकालीन समाज, धर्म, कला एवं वास्तुकला, प्रथम

- संस्करण—2005, सबलाइम पब्लिकेशन्स, 18, जैन भवन,  
एन0बी0सी0 के सामने, शान्ति नगर, जयपुर
- नारायण इन्द्र देव (अनु०) : कवितावली, षोडश संस्करण, सं० 2016, हनुमान  
पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
- निगम कृष्णा : समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, प्रथम संस्करण—1987,  
देवर्षि प्रकाशन प्रा० लिमि०, वाराणसी
- प्रसाद कमला : मध्यकालीन रचना और मूल्य, प्रथम संस्करण—1994,  
वाणी प्रकाशन, 61—एफ, कमलानगर, दिल्ली
- प्रसाद नर्मदेश्वर : मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था, प्रथम  
संस्करण—1973, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन  
भवन, कदम कुआँ, पटना—3
- पाण्डेय कुमार : सन्तों एवं सूफी कवियों की सांस्कृतिक चेतना, प्रथम  
संस्करण—2007, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स  
4378/ 9बी, 105, जे०एम०डी० हाउस, मुरारी लाल  
स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—2
- प्रेम शंकर : भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, प्रथम संस्करण—2000,  
वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नई दिल्ली—2
- बोरा राजमल : भारतीय भक्ति साहित्य, प्रथम संस्करण—1994, वाणी  
प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नई दिल्ली—2
- बड़थवाल पीताम्बर दत्त : हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा, संस्करण—1965,  
तक्षशिला प्रकाशन, 23/4762 अंसारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली-2

- बघेला हेत सिंह : राजस्थान के इतिहास की रूपरेखा (प्रारंभ से 1949 तक) पुनर्मुद्रण-2005, रिसर्च पब्लिकेशन्स, 89 त्रिपोलियन बाजार, जयपुर (राजस्थान)
- बिसवाल तपन : मानवाधिकार जेन्डर एवम् पर्यावरण, प्रथम संस्करण-2008, वीवा बुक्स, नई दिल्ली।
- बिष्ट लक्ष्मण सिंह : हिन्दी साहित्य : संक्षिप्त परिचय, संस्करण-1990, विनोद प्रसाद अग्रवाल, श्याम प्रकाशन, श्री अल्मोडा बुक डिपो, अल्मोड़ा-263601
- भोलानाथ : आधुनिक हिन्दी साहित्य (1900-1950 ई0) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, संस्करण-1969, बैतुल बिल्डिंग, आगरा
- भटनागर रामरतन . : हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन, प्रथम संस्करण-फरवरी 1948, कितबा महल, 56-ए, जी0टी0 रोड, इलाहाबाद
- मंजू : अद्वैतवाद और शून्यवाद, प्रथम संस्करण-1986, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825 न्यूचन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-7
- मिश्रा प्रेमीराम : हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल, संस्करण-1992, राजस्थान प्रकाशन, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर-2
- मुखिया हसबंस : मध्यकालीन भारत : नये आयाम, पहला संस्करण-1998, पहली आवृत्ति-2001, राजकमल

- प्रकाशन, प्रा0 लिमि0, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,  
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- मौर्य प्रहलाद : कबीर का सामाजिक दर्शन, महेश त्रिपाठी पुस्तक  
संस्थान, 109/80 ए, नेहरू नगर, कानपुर-208012
- माथुर मोहिनी : सामन्तवाद से लोकतंत्र, प्रथम संस्करण-1995,  
प्रिन्टलैव, जयपुर
- महाजन संजीव : भारतीय समाज, प्रथम संस्करण-2004, अर्जुन पब्लिशिंग  
हाउस, 4831/24, प्रहलाद अली, अंसारी रोड,  
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- महाजन संजीव : सामाजिक मनोविज्ञान, प्रथम संस्करण-2004, अर्जुन  
पब्लिशिंग हाउस, 4831/24, प्रहलाद गली, अंसारी  
रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- महाजन संजीव : आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, प्रथम  
संस्करण-2004, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, अंसारी रोड,  
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- मोहन वीरेन्द्र : कबीर और जायसी : मानव मूल्य, प्रथम संस्करण-1984,  
कोणार्क प्रकाशन, कमलानगर, दिल्ली-110007
- राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन (वैदिक युग से बौद्ध काल तक),  
संस्करण-जनवरी-2003, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी  
गेट, दिल्ली
- रेड्डी किट्टू : भारत का इतिहास : एक नवीन दृष्टिकोण, प्रकाशन

- वर्ष-2008, कल्पज, पब्लिकेशन्स, सी-30, सत्यवती  
नगर, दिल्ली-110052
- लूनिया बी०एन० : प्राचीन भारतीय संस्कृति, प्रथम संस्करण-जनवरी 1916,  
लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशन, हास्पीटल  
रोड, आगरा
- वंशी बलदेव : कबीर की चिन्ता, प्रथम संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन,  
21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2
- वर्मा ओम प्रकाश : समकालीन भारतीय समाज की सामाजिक गतिशीलता,  
संस्करण-1990, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर-208012
- विरमानी प्रवेश : हिन्दी सन्त-काव्य में मधुर भावना, प्रथम  
संस्करण-1988, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
- वर्मा ओ०पी० वर्मा : भारतीय सामाजिक समस्याएँ, संस्करण-2004, विकास  
प्रकाशन, 311-सी० विश्व बैंक बर्रा, कानपुर-208027
- शर्मा गजानन : भक्ति कालीन काव्य में नारी, प्रथम संस्करण-1972,  
जीत मल्होत्रा, रचना प्रकाशन, 45-ए, इलाबाद
- शर्मा जगन्नाथ शर्मा : उदासीन सम्प्रदाय हिन्दी कवि और उनका साहित्य,  
प्रथम संस्करण-1981, विभू प्रकाशन, साहिबाबाद
- शर्मा रामविलास : भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद खण्ड-2, प्रथम  
संस्करण-1982, राजकमल प्रकाशन प्रा० लिमि०, 8,  
नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली
- शर्मा रामविलास : भारतीय साहित्य की भूमिका, प्रथम संस्करण-1996,



- राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली
- शर्मा शिवकुमार : हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, सोलहवाँ संस्करण-1998, अशोक प्रकाशन, 2615 नई सड़क, नई दिल्ली-110006
- शर्मा बबिता : आचार्य शंकर और संत कबीर एक दार्शनिक अनुशीलन, प्रथम संस्करण-2006, आर0डी0 पाण्डेय, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, एन-3/25, मोहब गार्डन उत्तम नगर, नई दिल्ली
- शंभुनाथ (संपा0) : सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, भाग-2, प्रथम संस्करण-2004, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- शुक्ल सावित्री : संत-साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, अगस्त-1963, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ
- श्रोत्रिय प्रभाकर : कबीरदास-विविध आयाम, प्रथम संस्करण-2002, भारतीय भाषा परिषद, 36-ए, शेक्सपियर सारणी, कलकत्ता-700017
- ‘सहायक’ रामजीलाल : महात्मा कबीर एवं महात्मा गांधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण-1972, रामलाल पुरी, संचालक आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6

- ‘सहायक’ रामजीलाल : कबीर-दर्शन, प्रथम संस्करण-1962, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
- सिद्धान्त शास्त्री पंडित फूलचन्द्र : वर्ण, जाति और धर्म, प्रथम संस्करण-1963, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता
- सिंह बच्चन : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, प्रथम संस्करण-1996, प्रथम आवृत्ति-1997, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा0 लिमि0, 52/38 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
- सिंह नैपाल : उत्तरी भारत के सांस्कृतिक विकास में सन्तों का योगदान (15वीं-16वीं शताब्दी), प्रथम संस्करण-1986, तारा मण्डल, 398, आवास विकास कालोनी, सासनी गेट, अलीगढ़-202001
- सिंह राजदेव : सन्तों का भक्तियोग (उन्मनी के प्रकाश में), प्रथम संस्करण-1968, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी-1
- सिंह रवीन्द्र कुमार : संत-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता, प्रथम संस्करण-1994, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- सिंह मोती : निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण, सं0 2021 वि0, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
- सिंह अजब : चेतना, शिक्षा एवं संस्कृति, प्रथम संस्करण-1997 ई0 विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी-221001

- सिन्हा हरेन्द्र प्रसाद : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पंचम संशोधित संस्करण—1993, पुनर्मुद्रण—2007, मोतीलाल बनारसी दास, 41, यू0ए0 बंगलारोड, जवाहर नगर, दिल्ली—7
- स्नातक विजयेन्द्र (संपा0) : कबीर, पहला संस्करण—1965, छठी आवृत्ति—1993, राधा कृष्ण प्रकाशन प्रा0 लिमि0, 2/38, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
- सोलंकी कोमल सिंह : नाथ पंथ और निर्गुण संत—काव्य, प्रथम संस्करण—1966, विनोद प्रकाशन मन्दिर, आगरा
- सक्सेना, प्रदीप (संपा0) : नवजागरण और सामाजिक चेतना, पहल, 101, रामनगर, आधारताल, जबलपुर—482004 (म0प्र0)
- हरिमोहन : भक्तिकाव्य पहचान और परख, संस्करण—2004, अमर प्रकाशन (पं0 केदारनाथ पचौरी भवन) सदर बाज़ार, मथुरा।

### शब्दकोश

- आप्टे शिवराम वामन (संपा0) : संस्कृत—हिन्दी शब्दकोश, नवीन एवं संशोधित संस्करण, रायल बुक डिपो (पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स) 1529 प्रथम तल, महावीर मार्केट, नई सड़क, दिल्ली—6
- प्रसाद कालिका, : बृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् परिवर्धित संस्करण—सितंबर 1992, ज्ञानमण्डल लिमि0 विक्रम भवन, वाराणसी—5
- राजवल्लभ सहाय, : बृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् परिवर्धित संस्करण—सितंबर 1992, ज्ञानमण्डल लिमि0 विक्रम भवन, वाराणसी—5
- मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव
- पण्डित रामचन्द्र (संपा0) : भार्गव आदर्श हिन्दी शब्दकोश, षष्ठ संस्करण—1964,

भार्गव बुक डिपो, चौक, वाराणसी

वर्मा आचार्य रामचन्द्र (संपा०) : लोकभारती प्रमाणिक हिन्दी-कोश, लोकभारती  
प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद

वर्मा धीरेन्द्र (संपा०) : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, तृतीय संस्करण-1985,  
ज्ञानमण्डल लिमि० वाराणसी

### संस्कृत ग्रंथ

आचार्य श्रीराम शर्मा (संपा०) : यजुर्वेद (सरल हिन्दी भावार्थ सहित) तृतीय  
संस्करण-1965, संस्कृत संस्थान, बरेली

गाडगील अमरेन्द्र लक्ष्मण (संपा०) : श्रीमद् बाल्मीकि रामायणम् (प्रथम खण्ड),  
प्रथमावृत्ति-1982, अ०ल०गाडगील, श्रीराम कोश  
मण्डलम्, 1194 सदाशिव पेठ, (पुणे)  
पुणपत्तनम्-411030

गोविन्दानन्द श्री स्वामी (संपा०) : शुक्ल यजुर्वेद संहिता, भाग-2, प्रथमावृत्ति-2000 ई०  
सद्गुरु गंगेश्वर, इण्टरनेशनल वेद मिशन, तुलसी  
निवास, 3/31 जी० रोड, चर्च गेट, बम्बई

पण्डित नारायण दत्त शास्त्री (अनु०) : महाभारत, शान्ति पर्व (पंचम खण्ड), सातवाँ संस्करण,  
सं० 2053 वि०, गोविन्द बल्लभ कार्यालय, गीताप्रेस,  
गोरखपुर

मिश्र ज्वालाप्रसाद (संशोधिता) : श्रीमद्भगवद्गीता, पुनर्मुद्रित-2001 ई०, चौखम्बा  
विद्याभवन, वाराणसी

शास्त्री श्री राजवीर (संपा०) : मनुस्मृति, आर्ष साहित्य प्रचार, ट्रस्ट 455, खारी बावली,

दिल्ली-110006

## पत्र-पत्रिकाएँ

- कमलेश कामता (संपा०) : हिन्दी अनुशीलन, संयुक्तांक वर्ष-मार्च, जून, सितंबर, दिसंबर-1999, भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद
- कुँवरपाल सिंह (संपा०) : अभिनव भारती, संयुक्तांक 1991-1992, 1992-1993 ई०, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
- गौड़ रामशरण (संपा०) : इन्द्रप्रस्थ भारतीय अप्रैल-जून-2000, हिन्दी भारती एकादमी, नई दिल्ली
- गुप्त जगदीश (संपा०) : हिन्दुस्तानी पत्रिका भाग-43, अंक-4, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
- चतुर्वेदी त्रिलोकी नाथ (संपा०) : साहित्य अमृत पत्रिका, अगस्त-2008, स्वत्वाधिकारी श्यामसुंदरदास, आसफ अली रोड, नई दिल्ली
- तनेजा विनोद कुमार (संपा०) : प्राधिकृत 1999-2000 हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर-143005
- बारलिंगे सुरेन्द्र (संपा०) : परामर्श, सितंबर, अक्टूबर, नवंबर-2001, पुणे, विश्वविद्यालय प्रकाशन
- मोहम्मद नज़ीर (संपा०) : अभिनव भारती, 1983-84 ई०, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
- रंजन विजय (संपा०) : अवध-अर्चना श्रवणर अश्विन वि०सं० 2059, कबीर-अंक, अगस्त, अक्टूबर-2008, अवध-अर्चना

प्रकाशन, फैज़ाबाद (उ०प्र० भारत)

- विश्वनाथ (संपा०) : नया साहित्य, अंक-1, जनवरी-1975, शिक्षा भारती  
प्रेस, जी०टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-110006
- सिंह नमिता (संपा०) : वर्तमान साहित्य, नवंबर-2010, एम०आई०जी०-28,  
अवन्तिका-1, रामघाट रोड, अलीगढ़
- समाचार पत्र : दैनिक जागरण, 23 नवंबर-2008, अलीगढ़-202001